

विद्यापति-पदावली

में

लोक-संस्कृति का चित्रण

प्रणेता

डॉ० प्रमोदकुमार सिंह, एम० ए०, पी० एच० डी०,
आध्यापक, हिन्दी-विभाग,
लंसट सिंह महाविद्यालय (बिहार विश्वविद्यालय),
मुजफ्फरपुर ।

प्रकाशक

कल्पना-तीर्थ

दलसिंह सराय

१९७०

प्रकाशक—

कला का-नोथे इन्वर्सिटी सरास,

त्रिपुरा—इण्डिया ।

संस्थाधिकारी—कै.सक ।

मुद्रक—

शा.सो.उप. प्रेस, मुजफ्फरपुर ।

मूल्य—

साधारण संस्करण—७ ०० रुपये ।

विशेष संस्करण १० ०० रुपये ।

—समर्पण—

पूज्य पिता

श्री वैद्यनाथ सिंह को,
जिनके मन्त्र का संबल पाकर ही
मैं टूट नहीं सका ।

—विनीत
प्रमोद

ज्ञान करके कवि का शि-प्रतिष्ठा के द्वारा सामाजिक बिन्दु और प्रतीकों में जो श्लोकधर्मिता प्राप्त होती है उसमें कवि के समाज-रूप के तब और भावस्वरूप के विकास करने के लिए ही प्रतीकों के द्वारा कवि को प्रतीकों की सहायता से समाज के विकास के लिए ही कवि को प्रतीकों की सहायता से ही है ।

कवि-समस्या के समाधान में 'सिद्धांत' को समाज-विचार के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।

विद्यापति के पूर्ववर्ती अर्थ-ज्ञान के लिए ही प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।

जहाँ तब तक कि विचारों का उद्देश्य विद्यापति का नहीं है ।
या 'कवि-विचारों का समाज-विचारों का ही है ।
जहाँ समाज-विचारों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।
या कि समाज-विचारों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।

— (समाज-विचार, १९४-१९)

'विद्यापति' के प्रतीकों 'कवि' के समाज-विचारों का ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।

विद्यापति यद्यपि 'सिद्धांत' के कवि की तरह समाज के 'विचारों' के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है । प्रतीकों के द्वारा समाज के विकास के लिए ही प्रयोग करना है ।

वह ठीक है कि विद्यापति अर्थ-ज्ञान की तरह समाज के 'विचारों' और 'समाज-विचारों' का प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु उनकी लोक-शास्त्री

विषयानुक्रम

	पृष्ठ-संख्या
प्रथम अध्याय—काव्य और लोक-निरीक्षण	१—४
द्वितीय अध्याय—विद्यापति का लोक-निरीक्षण और काव्य अर्थ	५—३३
(१) लोकिक मेल-लीलाएँ, कथा-संग्रह, कर्ण-सङ्घर्ष पर का चर्चित अर्थ	५—१०
(क) डोह (पृ० ५-६), (ख) चरैल और वरबक (पृ० ६-७) (ग) कुम्हार (पृ० ७-८), (घ) पत्नी (पृ० ८), (ङ) कुम्भी (पृ० ९), (च) डाबर की कुई (पृ० ९) (छ) मधुनी और साँवरि (पृ० ९-१०)।	
(२) लोक-जीवन के विविध व्यवहारों और कार्य- कलाओं पर आधारित अर्थ	१०—१६
(क) जूलाहा (पृ० १०-११), (ख) कुम्हार (पृ० ११), (ग) देली (पृ० ११), (घ) कृषि और उद्यान-कर्म (पृ० ११-१२), (ङ) मत्स्यबंधन तथा मत्स्यजीवी (पृ० १२-१३), (च) वाणिज्य और आर्थिक कारणाओं पर आधारित अर्थ (पृ० १४-१६)।	
(३) तीर-निरीक्षण	१६—२०
(४) चतरिवा का चित्रण	२०—२२
(५) मिथिला के निर्धनों की शोषणियाँ	२२
(६) जुबाड़ी और पाशा	२२—२३
(७) हाथी के जीवन और कार्य-व्यापार-संबंधी अर्थों का निवचन	२४
(८) न्यायाधिकरणिक कल्पना	२५—२६
(९) बंसबाही की हाँडी	२६
(१०) डोह साँप	२६
(११) लोक-संस्कृति के इतर पक्ष	२६—४३
(अ) लोकमिश्राम और अन्वविश्वास	२६ ३७

प्रतिभा जीवन के श्रुत, झोटे, उपेक्षित और विन्मृत विन्वो को छटोरने में जिस उरमाह का परिचय देती है उससे लोक-संस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था से उत्पन्न प्रगतिशील मूल्यों का ही प्रकटीकरण होता है। कालांतर में सुमित्रा-नन्दन पत्र में भी इसी प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं, कि जब उन्हें विद्यापति की ही तन्त्र घरनी का लुब्ध कृडा-कर्कट नार्थक एक सुन्दर प्रतीत होता है तथा पंखों के बच्चे, निगरेट के खाली डिब्बों की चमकीली पत्तियाँ, चमार आदि 'अच्छूत' विषय भी उनकी रचनाओं में स्थान पाने लगते हैं।

विद्यापति में 'लघुता'-चित्रण की मौलिक प्रवृत्ति को है किन्तु उनमें आधुनिक प्रगतिवादियों और मानववादियों के इस 'टाइकोण' का अभाव है कि चाँद को साहित्य के लिहास से उतार कर असत्य उपेक्षित ताराओं को उनका प्राप्य दिया जाए तथा ईश्वर की प्रस्न-प्रतिमा के स्थान पर मानव को पूजार्ह मानकने का प्रयत्न हो—

तुम बहुत बड़े हो चाँद, सुग्ध तुम पर भूमण्डल सारा,
चाहिए किन्तु मेरे दृग को कोई नन्हा-सा तारा।

—श्री कलक्टर सिंह 'केसरी'

× × ×
चीख उठा मन्दिर की कारा में बन्दी भगवान,
पूजित होने दो पत्थर की जगह नया इसान।

—श्री इयामनन्दन किशोर

विद्यापति के लोकनिष्ठ कवित्व में लघुता-पूजन के इस आधुनिक स्वर का नहीं रहना उचित और इतिहास-सम्मत ही है क्योंकि मध्यकालीन सामन्तीय जीवन-मूल्यों के साहित्यकार से 'होरी' और 'बलचनमा' के नायकत्व को सिद्धि की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है। सुतरां, लोक-संस्कृति के कल्पक विद्यापति की प्रगतिशील प्रतिभा लघुता-पूजन नहीं लघुता-चित्रण में ही अपनी मानवीय सहायुभूति और साहित्यिक न्याय-भावना को अभिव्यक्ति देकर स्वतन्त्र प्रमाणित होती है, यह मेरी सुनिश्चित धारणा है।

हिन्दी-विभाग,
लंगट सिंह महाविद्यालय,
(बिहार विश्वविद्यालय)
मुजफ्फरपुर।

{ प्रमोद कुमार सिंह,
तिथि २-२-१९७०।

विषयानुक्रम

पृष्ठ-संख्या

प्रथम अध्याय—काव्य और लोक-निरीक्षण	१—४
द्वितीय अध्याय—विद्यापति का लोक-निरीक्षण और नञ्जन्य अर्थ	५—१३
(१) लौकिक वेद-पौधों लता-गन्धों, नृणों आदि पर आधारित अर्थ	५—१०
<p>(क) ऊँख (पृ० ५-६), (ख) चटैरु और परवल (पृ० ६-७), (ग) कुम्हड़ा (पृ० ७-८), (घ) मूली (पृ० ८), (ङ) कुभी (पृ० ९), (च) डावर की कुईं (पृ० ९), (छ) मधुरी और पाँडरि (पृ० ९-१०)।</p>	
(२) लोक-जीवन के विविध व्यवसायों और कार्य-कलापो पर आधारित अर्थ	१०—१६
<p>(क) जुलाहा (पृ० १०-११), (ख) कुम्हार (पृ० ११), (ग) तेली (पृ० ११), (घ) कृषि और उद्यान-कर्म (पृ० ११-१२), (ङ) मत्स्यबंधन तथा मत्स्यजीवी (पृ० १२-१३), (च) वाणिज्य और आर्थिक धारणाओं पर आधारित अर्थ (पृ० १४-१६)।</p>	
(३) नीड़-निरीक्षण	१६—२०
(४) चतरिआ का चित्रण	२०—२२
(५) मिथिला के निर्वनों की भोंपड़ियाँ	२२
(६) जुआड़ी और पागा	२२—२३
(७) हाथी के जीवन और कार्य-व्यापार-संबंधी अर्थों का निबंधन	२४
(८) न्यायाधिकरणिक कल्पना	२५—२६
(९) बंसबाड़ी की हाँड़ी	२६
(१०) ढोंढ साँप	२६
(११) लोक-संस्कृति के उत्तर पक्ष	२६—५३
अ) लोकविश्वास और	२६ ३७

	पृष्ठ-संख्या
(१) शकुन	३७—३८
(क) काक-शकुन (पृ० २७-२९), (ख) शुभ- शकुन : अंगों और आँखों का फड़कना (पृ० २९-३०), (ग) यात्रा-संबंधी शकुन (पृ० ३०-३१), (घ) तारा और चंद्र- दर्शन-संबंधी अर्धरात्र या अपवाकुल (पृ० ३१- ३२), (ङ) वाणिज्य-जगत् के शकुन- मूलक विश्वास (पृ० ३२) ।	
(२) भूत-प्रेत-डायन-संबंधी लोकविश्वास और भाङ्ग-फूँक : अंधविश्वास और तंत्र-मंत्र	३२—३७
(क) भूत-प्रेत (पृ० ३२-३३), (ख) भाङ्ग-फूँक (पृ० ३४-३६) (ग) (डायन-संबंधी प्रवाद (पृ० ३६), (घ) बलि (पृ० ३७) ।	
(३) पाप-पुण्य-संबंधी लोकविश्वास	३७
(आ) रीति-रिवाज	३७—४६
(क) लोक-कृत्य	३८—४४
(१) शिशु-जन्म (पृ० ३८), (२) विवाह (पृ० ३९-४२), (३) पूजापचार (पृ० ४२-४३), (४) यज्ञ-रीतियाँ (पृ० ४३), (५) श्राद्ध-भोज (पृ० ४४) ।	
(ख) लोक-प्रथाएँ	४४—४७
(१) बेमेल विवाह (पृ० ४४-४६), (२) पर्दा- प्रथा (पृ० ४६), (३) सती-प्रथा (पृ० ४६), (४) दौदना गोदवाने की परि- पाटी (पृ० ४६-४७), (५) द्यूत-क्रीड़ा की प्रथा (पृ० ४७) ।	
(ग) लोकोत्सव	४७—४९
ङ लोकोत्थियाँ	४९—५३

प्रथम अध्याय

काव्य और लोक-निरीक्षण

कवि जीवन का छविकार होता है। जीवन की वास्तविकताओं को जो साहित्यकार निरन्तर दृष्टता में लपटाये कर सकता है वह उतना ही महान् साहित्यकार कहलाता है। जीवन का आकलन केवल वाक्याध्ययन और शास्त्रावलोकन में ही नहीं होता है। कवियों को अपनी आँवों में लोक-जीवन का भी निरीक्षण करना पड़ता है। निजी लोक-निरीक्षण से ही कवि की जानकारियों में आद्यता आती है। व्यास ने ठीक ही कहा है—“प्रत्यञ्जशी लोकानां सर्वदानीं भवेन्नरः।” लोकानुभव से ही मनुष्य सब कुछ जानता है। जीवन के पूर्ण ज्ञान के लिए लोक-ज्ञान अपरिहार्य है। विद्यापति भी लोक-व्यवहार को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं—‘सब तहँ गुनिअ अधिक बेवहार।’ कारा शास्त्र-ज्ञान विडम्बना पूर्ण ही होता है, अतः कवियों को निजा लोक-निरीक्षण से अपनी प्रतिभाओं के लिए खाद्य जुटाना चाहिए, यह आधुनिक चिन्तकों का ही नहीं प्राचीनों का भी अभिमत है।

काव्य-विषयों का संग्रह साहित्य और शास्त्र के आकरों से ही नहीं होता है अपितु इन दृष्टि में ‘लोक’ को भी आकर मानना चाहिए। प्राचीन काल से ही कवि लोग ‘लोक’ का पर्यवेक्षण करके मौलिक अर्थों और अनुच्छिष्ट कल्पनाओं का संग्रह करते रहे हैं। शास्त्रीय काव्य-परम्परा पर लोक-परम्परा का प्रभूत प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। राजशेखर ने भी एक प्रमुख अर्थ-योनिके रूप में ‘लोक’ का उल्लेख किया है। अन्य काव्य-शास्त्रीय पुस्तकों और कवि-विज्ञान-ग्रन्थों में भी ‘लोक-ज्ञान’ की आवश्यकता बतलाई गई है। शास्त्रीय व्युत्पत्ति के साथ-साथ ‘लोक’ की व्युत्पत्ति भी कवियों के लिए अपेक्षित है क्योंकि इससे वर्णन में भ्रान्ति और प्रमाद का प्रवेश नहीं होता है तथा नए-नए अर्थों का उन्मेष होता है। शास्त्रीय परम्परा की लक्षियों से स्वच्छन्द होकर कविगण पुराकाल से ही लोक-प्रचलित उक्तियों, लोक-उपमानों और लोक-जीवन के सहज अछूत चित्रों का सन्निवेश अपनी रचनाओं में करते रहे हैं।

भारतीय विद्वानों ने लोक-परम्परा और वैद-परम्परा तथा लोक और शास्त्र के विभेद को स्वीकृत कर रखा है किन्तु ये दोनों एक-दूसरे से अपृक्त और प्रभावित भी होते रहे हैं ।

जन समूह को ही 'लोक' कहते हैं । जन' या 'लोक' की परिधि में लिखित-अलिखित सभी प्रकार के मनुष्य आ जाते हैं । कवि इसी 'लोक' के जीवन या उसकी मस्कृति का अन्तर् और व्याख्याता हुआ करता है । कवियों के लिए ही नही मनुष्य-मात्र के लिए 'लोक संग्रह' को अपेक्षित कहा गया है । 'लोक' जगत-मात्र का वाक्य है और जन-मानव्य के व्यवहारों, आचरणों आदि से ही 'लोक-संग्रह' का सम्बन्ध है ।

भारतीय आचार्यों ने यह व्यवस्था दी है कि कवियों को लोक-धर्म का परिचय रहना चाहिए और उस आदेग के पावन स्वल्प भारतीय काव्य-साहित्य लोक-जीवन से अपना प्रेरणा-स्रोत ग्रहण करता रहा है । लोक-जीवन के सहज चित्र सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और परवर्ती लोक-भाषाओं के साहित्यों में विशाल परिमाण में प्राप्त होते हैं । काव्य के लोक निरोक्षण से प्रसूत इन चित्रों का अध्ययन जन सस्कृति' या 'लोक वार्ता' (फोक लोर) की दृष्टि से भी किया जा सकता है ।

भारतीय आचार्यों ने जिसे 'लोक' कहा है उसे ही पाश्चात्य विद्वानों ने 'फोक' कहा है । लोक-जीवन से सम्बद्ध बातों को यूरोपीय पण्डितों ने 'फोक लोर' के अन्तर्गत विवेचन किया है । 'फोक लोर' के लिए हम 'लोक-सस्कृति' शब्द का हिन्दी में प्रयोग कर सकते हैं ।^३

१. कनयेव हि ससकृताः चरा जनकादयः ।

लोकसंस्कारानामे संपरयः कुर्महेति ॥

—[शान्दगीवद्गीता, ३.२०।]

२. इष्टव्यं शान्दमनसदधानं, ३.३; ३.११, ३।२४, ।

३. "डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने मनुस्मृतिके 'फोकलोर' के लिये 'लोक-संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया है उक्त शब्द सनातन है । लोकसंस्कृति के अन्तर्गत जनजीवन से संबंधित जितने - ब्रह्म-संस्कार, विद्वान्-निषेध, विश्वास, प्रथ, परंपरा, धर्म, मूढ ग्रह, अनुष्ठान आदि हैं वे सभी आते हैं । जैसा ऊपर उद्धृत से बतलाया जायगा, फोकलोर के अन्तर्गत भी ये ही विषय समाविष्ट हैं । अतः 'लोक-संस्कृति' शब्द 'फोकलोर' के व्यापक तथा विस्तृत अर्थ का प्रकाशित करने में सन्धा समर्थ है । X X कुछ लोग कह सकते हैं कि लोक-संस्कृति शब्द 'फोक-कल्वर' का पदम बाँ सकता है, फोकलोर का नहीं । परन्तु डॉ० उपाध्याय के सिद्धांतानुसार 'लोक-कल्वर' तथा 'फोकलोर' में कोई विशेष अन्तर नहीं । दोनों का अन्तर एक दूसरे के द्वार का झूना हुई दिखाई पड़ती है ।"

—[हिन्दी-साहित्य का इतिहास इतिहास', भाग—१६, प्रस्तावना, पृ० ११-१२; डॉ० उपाध्याय.]

अभिजात एवं घास्त्रीय जीवन-विधियों और जनसाधारण के जीवन-प्रवाह में अन्तर देखा जा सकता है। हम स्पष्टतः देखने हैं कि गिष्ट जनों की संस्कृति और लोक-संस्कृति में अन्तर होता है। भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत ऋग्वेद में गिष्ट संस्कृति का आकलन हुआ है और अथर्ववेद में लोक-संस्कृति के विविध तन्त्रों का प्रकाशन प्राप्त होता है। हम गिष्ट और नागर साहित्य की रचनाओं में ना लोक-संस्कृति के अंगों का आभासतः चित्रण देख सकते हैं। यह एक प्रमाणित बात है कि भारत में लोक-संस्कृति ने गिष्ट संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है और भारतीय कवियों ने लोकिक अर्थों का अपनी रचनाओं में अपेक्ष्य-प्रथेष्ट धरण करके अपने लोक-ज्ञान का दूरा परिचय दिया है।

इंग्लैंड के बालियम जॉन टामसय थामस ने सन् १८४६ ई. में 'फोक लोर' शब्द का उद्भावना की थी। 'दामन महोदय ने यह शब्द सभ्य जातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा मूढ़ा ग्रहों को अभिव्यक्त करने के लिए गड़ा था।'

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदा ने 'फोक लोर' के सम्बन्ध में स्थित थामसय का मत इस प्रकार उल्लिखित किया है.—'स्थित थामसय ने लिखा है कि फ्रांस और स्कॉटलैण्ड में यह शब्द परम्परा से चले आते हुए गृह-निर्माण शिल्प, कृषि-विषयक नियम और विश्वास, वस्त्र-वपन कला जैसे उद्योगों के अर्थ में व्यवहृत होता है और इङ्गलैंड में जनता के किनो वर्ग के लिखित या अलिखित परम्परा, सौन्दर्य का अभिव्यक्त तथा रसानुभूति के तौर-सरीकों के अर्थ में।'

डॉ० द्विवेदा 'फोक लोर' के लिए लोक साहित्य के अतिरिक्त 'लोक-संस्कृति' जैसे व्यापक शब्द के प्रयोग की सूचना देते हैं।

१. द्रष्टव्य 'अक्षरानुरा' ऑन लोकलोर', भाग १, पृ० ४०३; भरिया लाव।
२. द्रष्टव्य 'हिन्द-साहित्य कोश', पृ० ६६०, दूसरा कौतन, शार्पक 'लोकवाता'। उपर्युक्त उद्धरण का तुलना 'इन्स इन्ताना डेवा मिटोनेका, के इत मत से का जा सकता है। सभ्यजनों में असंस्कृत वर्ग के लोगों की धारणाओं और प्रथाओं का परंपरागत ज्ञान ही 'फोकलोर' है :—

"...traditional learning of the uncultured classes of civilized nations."—[Encyclopedia Britannica Vol. X. Folk-Lore.]

३. 'विचार और चिंतक', पृ० २०६, निबन्ध—'लोक-साहित्य का अध्ययन'।
४. "परन्तु साधारणतः लोक कथानकों, लोक गीतों, ग्रन्थ विश्वातों, प्रादेशिक निजंबरी कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों को इस साहित्य का विवेच्य विषय माना जाता है। फ्रांस और स्कॉटलैण्ड में जिन परंपरा प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को 'फोक-लोर' माना जाता है वे लोक-साहित्य शब्द से सूचित नहीं हो पाते। उनके लिए अपने देश के कई विद्वानों ने 'जन-संस्कृति', 'लोक संस्कृति' जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक उचित समझा है।"—('विचार और चिंतक', पृ० २०७)।

'फोक लोर' के अन्तर्गत लोक-परम्परा और लोक-मान्य को प्रतिबद्धाया है प्रभावित तन्वी का ग्रहण होता है। उनके अन्तर्गत समस्त लोक-साहित्य, लोक-कथा, लोक-परम्परा, लोक-विश्वास, लोक-प्रथा आदि आते जाते हैं।

सोकिया बर्न ने भी 'फोक लोर' के विषय-विस्तार का निरूपण करते हुए संपूर्ण लोक-साहित्य, लोक-विश्वास एवं अन्व-विश्वास तथा रीति-रिवाज और प्रथाओं को उनमें अन्तर्भूक्त माना है।^१ सोकिया बर्न का ही मत सबसे प्रामाण्य और विशद् है :

१ "There would seem to be no disagreement about its use to include all kinds of folk-songs, folk-tales, superstitions, local legends, proverbs and riddles"—[Dictionary of World Literature, P. 242—43—See]

२ उद्भव हि इंडियन आर्क जर्नल १९१४, द्वितीय खंड, पृ० ४ सोकिया बर्न। डॉ० सत्येन्द्र ने बर्न के बक्त को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—'सोकिया बर्न ने 'फोकलोर' के क्षेत्र विस्तार के संबंध में लिखा है कि यह एक अति बोधक शब्द की भांति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछले हुई जिनमें प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुच्चत भावियों का असंस्कृत समुदाय का अवशिष्ट विश्वास, रीतिरिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कथावते आता है। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में भूत-प्रेता की दुनिया तथा उनके साथ समुच्चों के सम्बन्धों का विषय में जादू-टोना, समोहन, बशाकरण, ताबाज, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा अत्यन्त विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। इनके अतिरिक्त इनमें विवाह, उत्तराधिकार, बारप्रकाश तथा जड़ जगत् में रातरिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखंड, नाच-नृत्याय, पशुपूजन आदि विषयों का भी रात-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा बनेगावर्ग, अवदान (लाजेड), लोक कहानियाँ, बैलेड गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ और लारियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आत्मीयता है वे सभी इसके क्षेत्र में हैं। यह कितान के हृदय की आहूति नहीं है जो लोक संस्कृति के विद्वान् को अपना आर आकर्षित करता है प्रत्युत वे उपचार तथा अनुष्ठान हैं जिन्हें कितान हल का भूमि जानने का काम में लाने के समय करता है; जल तथा वृष्टि की बनावट नहीं, बल्कि वे टोने टोने हैं जिन्हें मछुआ समुद्र के किनारे करता है उसे अपना किता भवन का निनायक नहीं है, प्रयुक्त वह बाल है जो उनके निनायक के समय दा आता है। लोक संस्कृत वस्तुतः आत्म मानव का मनो-वैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा अधि के क्षेत्र में हुई हो, अथवा सामाजिक संगठन, तथा अनुष्ठानों में अथवा विरायत इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में सम्पन्न हुई हो।'

—[डॉ० सत्येन्द्र: 'वर्तमान-साहित्य का अध्ययन, पृ०—४—१ के आचार पर 'हि. सा. का बृहत् इतिहास, भाग १६, प्रस्तावना, पृ० १३ पर उद्धृत]

द्वितीय अध्याय

Handwritten text, possibly a page number or reference.

Handwritten text, possibly a page number or reference.

विद्यापति का लोक-निरीक्षण और तज्जन्य अर्थ

निष्ठ या अभिजात साहित्य-प्रणेता होकर भी विद्यापति अपनी रचनाओं में अपने लोकानुगत का परिचय देते हैं। विद्यापति-पदावली में मिथिला के स्थानीय चित्रों और आंबलिक दृश्यों का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है। कवि ने लोक-जीवन के विविध पक्षों से अर्थों का आयात करके अपनी रचनाओं में लटि-मुक्त स्वच्छतावादी चित्रों की प्रतिष्ठा की है। लोक-जीवन के प्रति सामन्त कवि विद्यापति की यह गहन निष्ठा निश्चय ही उनकी मौलिकता की विधायिका होने के कारण श्लाघ्य है।

विद्यापति भी कालिदास की ही तरह नगरिक जीवन और लोक-जीवन के युगपत् वर्णन में दक्ष हैं।

(१) लौकिक पेड़-पौधों, लता - गुहमों, तृणों आदि पर आधारित अर्थ—

(क) ऊँख :— कालिदास लोक-जीवन के मार्मिक चित्रों के संग्राहक और लोक-पर्यवेक्षण में पटु हैं। रघुवंश के एक पद्य में लोकवृत्तान्त-विद् कालिदास प्रकृति का सही रूपांकन करते हुए ऊँख और घान के खेतों का शरद् ऋतु में वर्णन करते हैं। ऊँखों की छाँह से घँटकर घान के खेत की रखवाली करने वाली और रघु का प्योगान करने वाली स्त्रियों का लोकचित्र रघुवंश में इस तरह आया है :—

इक्षुच्छायाविषादिन्व्यः तस्य गोप्तृर्गुणोदयम् ।

आकुमारकथोद्घातं शालि गोप्यो जगुर्यशः ॥

कवि कृषक-जीवन का महज चित्र हमारे सामने लाता है। शरद् ऋतु में घान पक जाते हैं और ऊँख के पौधे भी बड़े हो जाते हैं जिनकी छाँह में घान की रखवाली करनेवाली स्त्रियाँ बँठ कर गीत गा रही हैं, यह लोक-जीवन का अद्भुत प्रसंग है। कालिदास ने घान और ऊँख तथा गीत गा-गाकर घान की रखवाली करनेवाली स्त्रियों के चित्र को अपने लोक-निरीक्षण की

शक्ति से साकार-सा कर दिया है। कालिदास का यह अर्थ दृष्टि-रहित और लोक-परक है।

विद्यापति की कल्पना भी ऊँख का लोक-विग्रह ले जाती है। बिधिला में ऊँख की खेती अभी भी खूब होती है। अपने ही रस से फट पड़ने वाले ऊँख का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने विद्यापति अपने लोक-ज्ञान का परिचय देते हैं। विद्यापति ने ऊँख का परीक्षण करके उचित ही कहा है कि ऊँख अपने ही रस से फट जाता है। विद्यापति की इस उक्ति का कौत स्पष्टतः लौकिक परिदेश भी है।

(ख) चटैल और परदल — कालिदास की दृष्टि शिलीश्र या बृहुरन्ता, कीचक या तवा के शौकों से लवणयुक्त नखे दाम और बरहों के प्रसंग में मोथा जैसे सामान्य पदार्थ पर थी रही है।^४

इसी तरह विद्यापति की लौकिक और घरेलू पदार्थों तथा कुछ लता-गुल्मों का चित्रण करके अपनी लोक-परिदेश-शक्ति का परिचय देने हैं। वे चटैल और परदल का अर्थ समझने वाले कहते हैं —

अरे कि कदा रति रूपम यौर।
चिह्नक चटैल बोकि अरौर।^५

प्रस्तुत प्रसंग में नायिका अपनी प्रति-विक्रान्ति पर पक्षताही है कि उसने नकल को असल समझ लिया था। वह चटैल को ही परदल मान बैठी थी

१. ह्यथक कपटा वचन पित्रर
अपने रसे चकठ दृष्टिगतः।
— [सि भास्कराज विद्यापति, पृष्ठ— १६०, वां० सुन्दर भा, पृ० १०, पृष्ठ— ६६]

२. कटुं वचनं प्रभवति तदीमुत्क्रितीभ्यामवन्ध्या
नच्छुत्वा रे प्रवणामुमन गदितं जासमोत्क।
(सिधुत्, पूर्वमेव १११)

३. (क) शब्दाथनै मधुरानिलै, कीचकाः पूर्वभाषाः
संस्काराभिरुपुरविजयो गायने विनरोभिः।
— (पूर्व मेव १२३)

(ख) वा पूर्वशकीचकाः असासदरीमुन्दोथैर समरयोः।
उदासनाचिह्ननि विन्नायै नवजायित्वमिषोपगन्तम्।
— (सुन्दर भासद, १२३)

४. 'विश्वरूपैः शिखरैः पर्वतैः शिखरैः शिखरैः शिखरैः'।
— (सिन्हास-शां कु, १०६१)

५. शरीरवध गुण, पृष्ठ-४३३।

सन्देशरासक में लोक कवि अद्दहमाण ने भी बाड़ी की लूंबी या लौकी की गर्व पूर्वक चर्चा की है ।^१

विद्यापति ने खर के छप्पर पर पसरने वाले कुम्हड़े और जीर्ण छप्पर का चित्र खींचा है। आँगन का कुम्हड़ा और दरिद्र का विगलित छप्पर ये दोनों ही लौकिक चित्र हैं। 'पद्मावत' के बारहमासा के अन्तर्गत लोक-कवि जायसी ने भी टपकने वाले छप्पर का लौकिक प्रसंग उपनिबद्ध किया है। जायसी की रानी नागमती "अजना रानीपत भूल कर" एक सामान्य नारी की तरह कह उठती है :—“पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं विनु माह मँदिर को घावा ॥”^२

यदि स्वाधी रहते तो वे बरसात में टपकने वाले छप्पर की सरमत्त करवाते, किन्तु स्वामी के न रहने से बेवारी नागमती सोचती है कि कौन छप्पर को ठीक कराएगा ? महलों में रहने वाली नागमती जिसके पास मृत्यो और व्यवस्थापकों की कमी नहीं है, एक साधारण गृहिणी की भाँति बरसात में छप्पर को ठीक कराने की बात को लेकर व्यग्र है, यह जायसी की भावप्रवण कल्पना है जो लोक-संस्कृति की रसवर्षा में स्नात है।

विद्यापति ने खर के छप्पर पर पसरे कुम्हड़े से छप्पर की क्षतिग्रस्तता का संकेत दिया है किन्तु जायसी ने बरसात में छप्पर को छाने, लपड़ा बदलने आदि के लोकचित्र को प्रस्तुत किया है।

(घ) मूली :—विद्यापति ने अप्रस्तुत-योजना के रूप में मूली का लौकिक चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है :—

“मूर भाँगल सन कएलह सिनेह ।” — [न० गु०, पद—४४९] ।
उन्होंने एक अन्य पद में भी जड़ से ही दूः जानेवाली मूली का लोक-उपमान प्रयुक्त करके अपनी स्वच्छद मनोवृत्ति का परिचय दिया है :—

सखि हे दुरजन दुरनय पाए ।

मूरा जजो मूइह सजो भाँगल अपदहि गेल सुखाए ॥

— [परिषद-पदावली, पद—१०४]

मैथिली में कुम्हड़ा का लेकर एक लोकोक्ति भी प्रचलित है—“भोज धरी कोंडड़ा रोपव ।” — (लेखक)

१. “ता किं वाडिबिजगमा मा दिअउउ तुं दिपी कहवि ॥”

— (सन्देशरासक १११४॥)

२. पद्मावत, नामन—विशो—अपउ—द्वेडा ४ के ऊपर;

पृ० १२६, अन्वय शुभ्र का संस्करण

(क) कुम्भी :—विद्यापति ने पावरी और डावरी के ऊपर रहने वाले कुम्भी नामक आच्छादक वृक्ष को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया है। कुम्भी का यह बिम्ब उनके लोक-निरीक्षण का व्यञ्ज करता है —

नलाहुक बबन मरि आइ लाग
कुम्भी जल है मेल अनुदाग ॥

— [पारपद—पदावली, पद-१३०]

विद्यापति-साहित्य में 'कुम्भी का उल्लेख इस प्रकार भी मिलता है —

“कुम्भी जलकए जेहन पिरोति ।”^१

देहाती न कुम्भी से आच्छादित जलानवों को आमतौर से देखा जा सकता है। कुम्भी राँवाल की ही जाति का लता है। इसका और पानी का लगाव ऊपरी ही होता है। यह बल-शून्य जलानव के जल का श्रय्य कर देती है।

विद्यापति यह जानते हैं कि पानी के साथ कुम्भी की प्रीति ऊपरी ही नहीं, पानी के व्यक्तित्व भी नाशिका भी है।

(ख) डावर की कुईं .—विद्यापति ने देहाती डावरों में होने वाली कुईं का व्यंग्यपूर्वक वर्णन किया है :—

भरकू पानि डोषक कोई गरब उपजू जाहि ।
भने विद्यापति बहक कमल दूषए चाहए ताहि ॥

— न० गु०, पद—२१९)

मिथिला में डावरों या गड़हों के दृश्य अभी भी आमतौर से देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत पद में विद्यापति का वक्तव्य है कि डावर में फूलने वाली कुमुदिनी यदि भील या हूँ में पंदा होने वाले कमल की निन्दा करती है तो यह उसका मिथ्या गर्व ही है।

(ङ) मधुरी और पाँड़रि :—विद्यापति उपमान के रूप में मधुरी-फूल का व्यवहार करके मिथिला के इस विशेष पुष्प के प्रति अपना अनुराग प्रकट करते हैं।^२ मधुरी नामक लाल फूल मिथिला में बहुत फूलता है और अरुण अधरों के उपमान के रूप में सर्वथा ही उपयुक्त है।

१. द्रष्टव्य मिथिला-गीत-संग्रह, भाग ८, पृ० ६।

२. सुख मनोहर अरु रंगे।

फूललि मधुरी कमल सने ॥३॥

ओंठ के लिए 'पाँड़रि' का उमान भी लोक-प्रसूत ही है ।^१

(२) लोक-जीवन के विविध व्यवसायों और कार्य-कलापों पर आधारित अर्थ :—

(क) जुलाहा^२ — विद्यापति की कल्पना लोक-जीवन के विघ्नो का घन करने में अप्रतिम है । एक पद में विद्यापति वनजंबी निम्नवर्गीय जुलाहे का बिम्ब उद्दिष्ट करके 'जुलाहा-जाति' और उनकी कार्यावली का जो दृष्टान्त देते हैं वह पर्याप्त महत्वपूर्ण है :—

गमने कंठे करसि ओज
परेओ परक करए बोज ।
बाद्येओ जाति जोलहा जेओ
ओए दरि नहिहुए सेओ ॥

— (परिपद—पदावली, पद—०३१)

'कोकलोर' की दृष्ट से जुलाहे की जाति और उसके कार्य का यह निर्देश महत्वपूर्ण है ।

पद में छोटी जाति भाले बुनकर जुलाहे के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अन्त तक कपड़े को नहीं बुनता है । विद्यापति का यह लोक-निरोधण सत्य ही है कि जुलाहा बस्त्र के छोर को पूरा नहीं बुनता है । कदाचित् यह जुलाहा-जाति का कोई अन्धविश्वासमूलक टोना-टोटका ही है जिसे मैथिली में 'खोम-टोन' कहते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में लोक-व्यवहार के बस्त्र-उद्योग या दसुकारी तथा बुनकरों की निम्नजातीयता का उल्लेख मिलता है । इससे सिद्ध है कि विद्यापति के समय में विधिवत् नें जुलाहे फँले हुए थे और वे नीची जाति के

१. सामर बरन, नथन धनुर्जित,
बलद - जोग जुड़ कोका ।
कद-कद बिकद ओट-पुट पाड़िनि
लिधुर - फेन उठ कोका । ३॥

— (बेनीपुरी, पद-३)

२. जुलाहा-जाति सूतस्वविशारदों और समाजशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण है । सन्देशरासक का कवि अद्भुतनाथ और विद्यापति के परवर्ती कवार, य दोनों ही जुलाहा-जाति से संबद्ध थे । डॉ० पात मररररर बररररर क अनुनाय ' कौरी हा जुतजनान-धर्म में दोजित हा आनि पर जुलाहे हा नय' ('कहे कवार जोग' तथा 'सूतसूत मित्राय कोर' के कथा हैं मेरी समझ से कवार स केंद्र प्रवान गया कौरी किनु ककनलीन के वे जो मुखमान होने क पहले जोगियों का अनुयायी था ”

औ परबालमु तजे परतारि
हमे पए टहु दिस भेलहु आरि ।^१

दो खेतों के बीच में डूबे रहनी है, यह भारतीय कृषि-जगत् का शास्त्र सत्य है ।

विद्यापति एक पद में प्रेम की फुलबारी का विन्न उपस्थित करके फुलबारी के लोकपरक दृश्य को ही सामने लाते हैं । प्रेम—फुलबारी के प्रसंग में वे सुवचन-वारि, शील की आरी या मेंड, पिशुन-रूपी कीट आदि की भी चर्चा करते हैं ।^२ इस तरह यहाँ कवि की उद्योग-कल्पना लक्षित की जा सकती है ।

(५) मत्स्य-बन्धन तथा मत्स्यजीवी —विद्यापति-पदावली में मत्स्य-व्यापार और मत्स्यजीवियों से सम्बन्धित चित्र भी मिलते हैं ।

मियिला में बगाल की तरह ही मछली का भोजन बहुत पसन्द किया जाता है और यहाँ मछली फँसाने का व्यवसाय भी खूब चलता है ।

विद्यापति एक पद में 'अँधेरा' (अँधेरा या अन्हइ) नामक एक विशेष मछली की चर्चा करते हैं जो सर्पाकार और नेत्र-विहीन होती है । इसी पद में वे मछली मारने वाले बगुले और मछली फँसाने वाले 'टेना' का भी प्रसंग उपस्थित करते हैं—

टेना चडल बक बहुल देखल

अँधेरा दोसल आनि ।—(परिषद्—प० पद—८५)

'टेना' मछली फँसाने के लिए मिट्टी, सिरकी आदि के डाले हुए घेरे को कहते हैं ।^३ मल्लाहों के कार्य-व्यापार से 'टेना' का चित्र और 'अन्हइ' नामक

१. परिषद्-पदावली, पद—७२ ;

२. पून एक फुलवारि ल'ओन सुगारि ।
नतने पटाओल सुवचन-वारि ॥२॥
चौदिस बाहल सीतक आरि ।
जिने अवलम्बन कर अवधारि ॥४॥
तनु फुल फुन अ'भिनव पैन ।
जहु मन लइप न लाखहु हेन ॥५॥

× ×
पिसुन-आँट रहि लाभल ताहि ।

माहम फन देन विहि निरवाहि ॥१०॥

३. "टेना—मछली बसाने के लिए डाला गया मिट्टी, सिरकी आदि का घेरा ।"

—(विद्यापति-पदावली,

भाग १, प० १६७, शब्दार्थ, पद—८५ ;

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्)

विद्यापति जानते हैं कि तुम्हारे पास तो साल के पैसे की भरपूरता नहीं होती
 चाहिए, अन्यथा तब तुम्हें निरुत्तरता है। उन्हें यह भी पता है कि व्यय और
 जरूरतमन्द प्राहृत महंगा भी हो सकता है 'जडमत्त नरहोके तडमत्त बीक'—
 यह लोकोक्ति धनियों के विश्वास का आवेग जाती है तथा आरति गाहक
 महेंग बेसाह—यह लोकोक्ति क्रोधा के मनोविज्ञान को प्रकट करती है।^१

उस तरह हम देखते हैं कि प्रकृत तब ने लोक-व्यवसाय और तत्समयी
 नीति-निष्ठाओं और आस्थाओं का विग्रह हुआ है।

(३) सुखम वस्तु का रूप बट जाता है, यह आर्थिक सिद्धान्त है।
 व्यय होकर वेतने से वस्तु कम मूल्य पर विक्रमा है और दुर्लभ पदार्थ की कीमत
 अधिक होती है, लोक-जावन के इन आर्थिक मस्य को विद्यापति ने इस प्रकार
 प्रकट किया है -

‘बानर रोतहु’ - इन असोय ।
 तिन अरु नरके’ - तिन मोय ॥
 मृगज ने - तिन अरु मार ॥
 तिन तिन अरु मारि रमार ॥

- [परिपद-प०, पद-२५१, न० ५०]

(४) विद्यापति का एक पद हम हम में मिलता है—

मुन्दरि ह्य मुगहु मजो सा
 आदि अन लह महव नमार । - [प० प०, पद-१०६]

इस पाठ के अनुसार विद्यापति का बलव्य यह है कि बाजार आरम्भ
 और अन्त में महेंगा रहता है। किन्तु मि० म० (पद-४१) में 'लह' की
 जगह तहि पाठ मिलता है और डॉ० श्री मुपत्र भा (पद-१०६) भी
 'तहि' पाठ को ही प्रतिपादित करते हैं। डॉ० भा इन प्रसंग का यह अर्थ
 करते हैं कि बाजार में आरम्भ या अन्त नहीं होता है। उनका अभिप्राय यह है

१ प्रथम है सुकृति दुखेन बडल
 जिन लाख लाग के कम लाख ॥२॥
 जेरो के मज सुख-सुख सोय ।
 जइ-स प्राईक तडसत बीक ॥३॥
 सुख मुन्दरि तब मजल-पदा ।
 जनि मोपड क मोव बनिजान ॥४॥
 मेल दरम मर राखव मोय
 जेरो मज अनि ह्य ह्य ॥५॥
 अलहि न हृदय दुष्मिओव साह ।
 अरनि गाहक महेंग बेसाह ॥६॥

— [जेतीपुरी पद-४४]

विद्यापति जानत ह कि १५२२ की मात्रा की उर्रता नही हाना चाहिए, अथवा कम मुख्य पाठता है। उन्हें यह भी पता है कि व्यय और जरूरतमन्द प्राहक महंगा भी खरोजता है। 'जदमन परहोक तदसन बीक'—यह लोकोक्ति बनियो के विरवान की व्यंजित करती है तथा 'आरति गाहक महंग बेसाह'—यह लोकोक्ति क्रोता के मनोविज्ञान को प्रकट करती है।

इस तरह हम देखते है कि प्रस्तुत चर में लोक-व्यवसाय और तत्संबंधी रीति-रिवाजो और आस्थाओ का चित्रण हुआ है।

(३) सुलभ वस्तु का मूल्य घट जाता है, यह आर्थिक सिद्धान्त है। व्यय होकर बेचने से वस्तु कम मूल्य पर बिकती है और दुर्लभ पदार्थ की कीमत अधिक होती है, लोक-जीवन के इस आर्थिक सत्य को विद्यापति ने इस प्रकार प्रकट किया है :-

विदनाग मेडिहुं शून अमोळ ।

गिदिकह बधिके मडा तोळ मोळ ॥

सुदम मेड साति ! न रगभा ॥

काव कालक लण भाग नमार ॥

[परिपद-५०, पद-२११, श्लो ३०]

(४) विद्यापति का एक पद इस रूप में मिलता है—

मुन्दरि रूप गुण्डु लजो पार

आदि अंत लह महषासार । —(प० प०, पद—१०१)

इस पाठ के अनुसार विद्यापति का वक्तव्य यह है कि बाजार आरम्भ और अन्त में महंगा रहता है। किन्तु श्लो ३० (पद-४१) में 'लह' की जगह 'नहि' पाठ मिलता है और डॉ० श्री सुमद्र भा (पद—१०५) भी 'नहि' पाठ को ही प्रतिपादित करते है। डॉ० का इस प्रसंग का यह अर्थ करते है कि बाजार में आरम्भ या अन्त नही होता है। उनका अभिप्राय यह है

१. प्रथमहि सुन्दरि लुदिस कदत

जिा जोख नमार दे नस लाळ ॥२॥

तेजो दे हास नवा-सम नाक ।

जदमन परहोक तदसन बीक ॥४॥

सुगु सुन्दरि नब मदन-पसार ।

जनि गोपब अजोव उमिजार ॥६॥

रोम दरम रस राखन गोप ।

बापले गन अजिक गु-हास ॥८॥

भजहि न हजय बुकाओव लाह ।

आरति गाहक महंग बेसाह ॥१०॥

—[बेनीपुरी, पद—६३]

कि सौंदर्य के मूल्य में आदि और अन्त नहीं होता है।^१ डॉ० श्री उमेश मिश्र ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—‘महाशय विक्रय का कोई आदि अन्त नहीं है।’^२ किन्तु विद्यापति का अभिप्राय भाव यहाँ और ही है। इस लोकोगोचर का सीधा अर्थ यह है कि गुरु और अन्त में बाजार महँगा नहीं होता है। यह बात लोक-आन्दोलन के भी समय मिल्न होती है। बोहनी करने के समय झुड़ में बाजार में चीजों के मूल्य कम रहने दे, ताकि बिक्री हो सके और शकुन बना रहे। इसी तरह संघ्या का समय भी बोहनी को है और इस समय कम मूल्य रहने से चीजें बिक आती हैं। बाजार जब लगता है तब भी मूल्य कम रहता है और जब ठीक लगता है तब भी मूल्य कम ही रहता है। विक्रेता अपनी-अपनी चीजों को पठ उठने के समय मूल्य में भी बच देना चाहते हैं। विद्यापति बाजार को इस प्रकृति में परिचित ज्ञान पड़ते हैं।

(१) विद्यापति का यह अन्तव्य भी लांफ-भावार्थन ही है कि पहली बिक्री में मूल्य व्यक्ति या मूल्य क्रोता से अग्रहण करना चाहिए। पहली बोहनी मने आदमी के हाथ होने से अच्छा ‘शकुन’ बनता है।^३

(२) वाग्विद-प्रवसाय के अभिप्रायों को विद्यापति ने अपने पदों में उदाहरण लभित किया है। ‘पदावली’ में हाथ, बोहनी, मध्याय आदि की चर्चाएँ अनेकत्र मिलती हैं।

विद्यापति एक पद में सुरत-रस के पसार का उल्लेख करते हैं।^४ उनका अन्तव्य है कि बिक्री उभार नहीं होनी चाहिए, क्योंकि बलिया बोहनी के समय उधार कारवार नहीं करता है।^५

1. "O damed, beauty is superior even to quality : there is no beginning or end to the market [value of beauty]. III"—[Song of Vidyapati, Page 109].

२. द्रष्टव्य विद्यापति काव्य, पृ० २६३, पं० दि० २ । ली० सं० १७ के क्रम में ।

३. तोर साजनि पदिल पसार

इसर बचने कोरि ज मेरवा ।

इति पदनाक भजा के हाथ

के उपदस नइ गोपा साथ ॥

—[परिपद—पदावली, पद—१०३]

४. (क) सार सपारक सारे

अखर सुरतरस इसर पसारे ।

—(पं० पं० ३४)

(ख) मदन के पसार का प्रस्तन भी मिलता है :—

“उसरत मदन पसारे ।”—[पं० १०, पं०—४०]

५. इरहि रहसो मोहि सेवा

पाइल पदनाक उरगि न देता ॥

—[परिपद—पं०, पं०—३४]

विद्यापति की मिथिला के बाजार में केवल नकद ही नहीं उधार का व्यापार भी चलता है^१ तथा यहाँ 'बाउल' या बावले बनिद का भी अभाव नहीं है।^२ यहाँ का रोजगार मध्यस्थ^३ या दलाल^४ के माध्यम से संपन्न होता है, 'पदावली' से इस तथ्य की भी सांस्कृतिक सूचना प्राप्त होती है।

(३) 'कीर्तिकता' ही नहीं 'विद्यापति-पदावली' में भी रूपहाट और रणजीवाओं के संकेत मिलते हैं। ठली आयुवाली देहातिन कुट्टी के रेखा-चित्रकार विद्यापति दस्तुतः रूप का वाणिज्य करनेवाली भूतपूर्व वर्या का ही प्रसंग उपस्थित करते हैं—

हमे धनि वृद्धि परिनति नारि । वैसेहु वास न कहौ विचारि ॥
काहु के पान काहु दिअ मान । कत न हकारि कयल अपमान ॥

—(वि० प० । न० गु० ।—पद-१५)

एक अन्य स्थल पर प्रेम-पसाय के प्रसार के चित्रकार विद्यापति यौवन-नगरी में रूप-विक्रय और मोल-मोल तथा रस के वाणिज्यकार कृष्ण और मध्यस्थ मन्मथ का उल्लेख करके प्रकारान्तर से रणजीवा, रूपहाट और उसके दलाल के ही वाणिज्यपरक विरति को प्रस्तुत करते हैं।^५

१० हरि मनो कैमल रोक ज्यारी । —(परिषद्—पदावली, १ । पद—६४)

२० मवधु न बुकल गुण परिपार्डी ।
बाउर बनि क वर्गह वर धार्डी ॥ —(वही, पद—२५१) ।

३० हृदय हार मार देषा,
लोभ निकट नहि ह्योष विरोषा ।
मिन्नत उचित परिपाटी
मवध मतोन वरहि वर साधो ॥ —(वही, पद—६५) ।

४० कुलवति धरम काज मनमूल ।
भरन दलाल भौर अनुकूल ॥२॥ —(बेनीपुरी, पद—४८)

५० स अवि नगरि उने मव मार
पसुआ मन्ली पैन पसार ।
जोवन नारि बेनाजन अप
तने मुपदह जने सख्य ॥१००॥
माननि रे हरि रम बनिजार
सोप भरमे अनु जोनह गमार ।
X < /
नोह हुनि उचित रतन नहि भेद
मन्मथ मन्मथे कयल परिदेह ॥ —(परिषद्—पदावली, १, पद—१११) ।

विद्यापति ने एक जय पद में तयोवना दुश्चरों के शरीर के उमात्र-स्वहा वणिक्-विहीन और अर्ध-रहित हाड का घर उासियत करके केवल अपनी लौकिक वाणिज्य-कल्पना को ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि उस नारी के भूतकालीन शरीर-विक्रय को भी वर्णित किया है। सब तरह से गूँथ एव रिक्त दुकान का यह बिब गतधोना चाओवा के शरीर की सच्ची कहानी का वाचन करने में पूर्णतः सफल है।^१

(८) विद्यापति के एक पद में कौड़ी के वण्ड-वाचन के रूप में प्रचलन और मट्टे तथा घी के विक्रय का लौकिक अर्थ उपविष्ट मिलता है। पद का वक्तव्य है कि रामभजने पर यदि मट्टा नहीं मिलता है तब तो उससे भी अधिक कीमत की चीज घी को उधार माँगना सूखता ही है।^२

(९) गल्लया जोर व्याज की रीति का चर्चा उनके विनापति मा-जनी या चांगक द्रात का लौकिक चित्र ही रचिये है।

(१०) विद्यापति के एक वगम्यारक पद में भी महाजनी जीवन के बहुत में चित्र मिलते हैं। पद का वक्तव्य है कि खेती को रखवालों ने ही लूट लिया। वाणिज्य में भी लाभ नहीं हुआ। गरन्ति और भी छीज गई। विद्यापति का कहना है कि रामधन का वाणिज्य करने में बहुत लाभ और व्याज मिलता है। वे इस विषय को हाट और सब लोगों को वाणिज्यकार बतलाते हैं। जो जैसा रोजगार करता है वह वैसा ही गुनाका उठाता है।

१. सुन्दरि अवे की टेषह देह ।

बिनु हटकर अरय विदुन जैसन हाटक गउ ।।

—(पारंगत—पदावना, १ । पद—८३) ।

२. कउडि पठाओले पाव नहि बांग ।

घीव उधार मांग भतिभोग ॥१॥

—(बेनापुरा, पद—१०६)

३. माजनि धो माग माजगा ।

भूत बिनु पग न माग माव ॥१॥

—(बेनीपुरा, पद—४४)

पुनः मीमा, मजीन, याने आदि के वाणिज्य का भी वर्णन मिलता है ।

इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति-पारट्य में वाणिज्य-संबन्धी पृष्ठीय चित्रण नम्रावित है ।

३. नौडू—निरिक्षण

'नैयडूव' के कवि काठिदास दशार्णदेश का वर्णन करते हुए केशरी पुण, नामुन के जगण आदि के माय-साय पेड़ो ने नौडू बनाने में व्यस्त कौओ का भी चित्र खीचते हैं । इस तरह घोसले बनाने में कार्यरत कौओं और पेड़ों पर की हुलचल का हमोरा उपस्थित करने कालिदास अपने सूत्रम लोक-निरिक्षण का ही परिचय देते हैं ।^२

१. नैल कण्ठ मषवार लटल
 ठाकुर सेवा मो ।
 बनिजा कण्ठ लाम सहि पओले
 अलम निरुड मेल थोर ॥५७॥
 रसपम बनिजडू
 ब्रज अछु लाम अनेक ॥
 ओति मजीठ कनक हमे बनि रर
 पोसख मसमय थोर ।
 लोधि परेधि मलहि हमे निरस्त ।
 मन्थ लामण मन लोर ॥
 मन्थसाय द्वाट कप मानह
 मन्थो लेक बलिजिआर ।
 जो जस बनिजण लाम मल पावण
 मुकष मगहि ममाम ॥
 विद्यापति कए सूत्रह मद्राजध
 गम गगति अछु लाम ॥

—(परिपद—प०, पद—१६१)

२. पायडू-दुआधोपबसवलय केनके सुचिभिसनै-
 लीटारममैगु हबाने मजापाकृजमामैरुधाम ।
 लबामामुने परिषत्फलरथामजम्भलास्ता
 संशस्य के कलिपडडिसरयाविलना जशार्था- ॥

—(पूर्वभेष (३३) ॥

महाकाव्यों का उद्देश्य अत्र नीरों पर भी गहनता है। तार्किक न 'कविकंठाभरण' भी शुभाव कवि के लिये ही उपायों की शिक्षा दी है जिनमें लोकाचार-परिज्ञान, लोक-निरीक्षण भादि पर पूरा बल है।^१

उन्हीं सौ शिक्षाओं के क्रम में कहा गया है कि कवियों को घोंसलों से लेकर प्रासादों तक का पर्यवेक्षण करना चाहिए।^२

विद्यापति भी कालिदास की ही तरह सामान्य रोमन्ते का भी हार्दिकता से पर्यवेक्षण और चित्रण करनेवाले हैं। लोक-कवि विद्यापति ने मिथिला के छोटे से पक्षी चोवा के नीड़ को उपमान के रूप में उदाहरित किया है। चोचे के घोंसले के लोकाश्रित उपमान को लाकर विद्यापति अनुच्छिष्ट विभव की योजना करते हैं। यहाँ कवि का लोक-निरीक्षण स्पष्ट प्रतिपासित होता है।^३

४. चतरिआ का चित्रण

विद्यापति की दृष्टि 'चतरिआ' या भिबभंगे पर भी गई है।—

प्रथमहि कएलह हृदयक हार
बोललह तजे मोरि जिवन अघार ।
अइसनेओ हठे बिघटओलह पेम
जइसन चतरिआ हायक हेम ॥

—[परिपद्—५०, पद—२४३]

डॉ० श्री मुभद्रभाने 'चौतरिआ' पाठ दिया है, किन्तु इसका अर्थ 'भिक्षकविशेष' ठीक ही किया है।^४

१. द्रष्टव्य 'कवि-कण्ठाभरण', द्वितीय संधि ।

२. "घ- ब्रतियों की सेवा, घोंसले से लेकर महलों तक समा नि गम-स्थान देखना, मीठा और मिनस भोजन करना, पातुसाम्य अर्थात् वान पित्त अफ की समता, शोक न करना।"

—(कविकंठाभरण, स्व संधि, अनुवाद,

पृ० ६१; 'आचार्य ज्येन्द्र', डॉ० मनोहर लाल गौड़)

३. अवे हमे तुअ मिनेह जान...

कजोन उपाया देन

ए हरि चोचक खोन्हा अइसन

किहु न बानि-पेब ॥

—(परिपद्—५०, पद—३४)

४. songs of Vidyapati, Page 245, F. N.—Cataria—a class of boggars.

भारतीय-युग ने ही उगा सजाकर मे नगर-युगा के नाम में भिन्नमयी का वर्णन करना हुए 'चतुरिधा' को चर्चा की है जनः 'चतुरिधा का लोक सर्व भिन्नक का एक विशेष प्रकार ही जान पड़ता है ।"

प्रा० मुसद का ने 'चतुरिधा' वाले प्रसंग का जो स्पष्टीकरण किया है उसमें मैं अपनी विमर्श असहमति प्रकट करता हूँ । प्रा० का का वक्तव्य है कि जैसे हठ और सनक में आकर भिन्नमयी सोने की भी टुकरा देता है उसी तरह नायक ने प्रेम को तोड़ दिया है — टुकरा दिया है ।"

मेरी समझ में पूरे प्रसंग का आशय यह है कि कोई प्रेमी के द्वारा तिरस्कृत नायिका नायक से कहती है कि हे प्रिय, पहले तो तुमने मुझे हृदय-हार बनाया और मुझे अपना जीवसाधारण बतलाया, किंतु ऐसे उदक प्रेम को भी तुमने हठपूर्वक तोड़ दिया—विषटित कर दिया और अब इस स्थिति में मृत्यु तो ऐसा लगता है कि जैसे चतुरिधा के हाथ से एकाएक सोना बटे जाने के बाद वह विकल, स्तब्ध और दुःखी हो जाता है उसी तरह मैं भी सर्वस्व लौकर उनी भिन्नारी की भाँति हो गई हूँ ।

भिन्नारी के हाथ में सोना आकर प्रति खला जाता है तब वह बड़ा पीड़ित होता है । नायिका को नायक का भ्रष्ट प्रेम भिन्नारी या किन्तु उस प्रेम की नायक ने ही पुनः विषटित कर दिया है जिससे नायिका सोना पाकर पुनः उससे वंचित हो जाने वाले 'चतुरिधा' की तरह मर्षाहित हो गई है ।

'परिषद्-वदावली' के संपादकों ने 'चतुरिधा' का जो अर्थ-कारण या बाजीगर किया है ।^३ यह संभव है कि 'चतुरिधा' चतुरिधा की कौटि का

१. "जगा, योग, नगरि, मरुत, मरुदुग्धा, जेता, चारिधा, नरुनीया, मदीर, मोरुधा, वाहिति, परमा प्रचुति से अनेक भिन्नारि के अन्त ।" — [वर्णनकार १२, नगर वर्णनो] पृ० २] ।

२. "You have, like a cataract, his gold, discarded love that was so deep just on account of your whim- II." — (Songs of Vidyapati, Page 245, Song — 242)

३. "चतुरिधा — (चतुरिधारी — सं०) बाजीगर ।" — [पृ० ५०, पद — २४३, शब्दार्थ, पृ० ३४४] । पूरे प्रसंग का अर्थ पृ० ५० से इस प्रकार किया गया है :— "पहले तो (मुझे अपने) हृदय का हार बनाया (और) कहा (कि) तुम मेरे जीवन का आधार हो ।

थोड़ा होते हुए भी इतना प्रेम को विषटित कर डाला; जैसे कि ज़ादूर के हाथ का सोना विषटित हो जाता है ।" — [पद — २४३, अर्थ — प्रकरण, पृ० ३४४]

हमारा दिखा-दिखाकर भीख माँगनेवाला या उदरपोषण करनेवाला हो। यदि हम अर्थ की मान लिया जाए तो हमारे विद्यापति-द्वारा-निर्मित हाथ की सफाई दिखाने वाले बाजीगर का चित्र हमारे सामने आता है। यह भी बिल्कुल लोकचित्र ही है। किन्तु वर्णरत्नाकर और डा० झा के साधुओं के आधार पर 'चरित्रा' का अभिप्राय एक विशेषप्रकार का भिखारी ही मानना समीचीन है।

५. मिथिला के निर्धनों की झोपड़ियाँ

विद्यापति मिथिला के झोपड़ीनुमा घरों को नहीं भूलते हैं। हम पीछे देख चुके हैं कि वे खर के छपर पर कुम्हड़े के प्रसार के कारण खर की दुरवस्था का मयेष्ट परिज्ञान रखनेवाले यथार्थवादी कवि हैं। इसी तरह उनकी दृष्टि छप्पर से उतर कर टट्टी के घरों के द्वारों पर भी टिकती है—

साद्य नुकात्रिअ तिमिरक सीन्धि
परउसिन देखए फरकी ज्ञान्धि ॥ —(१० १० । ७३)

यहाँ विद्यापति झोपड़ी को 'फलकी' या टट्टी के फाटक का प्रसंग लाकर मिथिला के दरिद्रों के घरों का चित्र ला खड़ा करते हैं।

एक अन्य पद में भी विद्यापति इस चित्र को दुहराते हैं—

“टाट टट्टले आङ्गन बेकत सबे परदा राप।” —(१० १० । ६५)
टट्टी के घरों में टाट या टट्टर के ही दरवाजे होते हैं। उसके टट्टर के टूट जाने से आँगन दिखलाई पड़ने लगता है, यह कवि का आँखों-देखा अनुभव है।

विशाल हर्म्यों और रत्नशक्ति द्वारों वाले प्रासादों के नागर वातावरण से परिचित और समृद्धि की छाया में निर्मित जीवन बितानेवाले विद्यापति जनसाधारण के खर से छाए छपर, टट्टी के घर और 'फलकी' को नहीं भूल मके हैं, यह निश्चय ही उनके लोकनिष्ठ व्यक्तित्व का प्रमाण है।

६. जुआड़ी और पाशा

भारत में प्राचीन काल से ही बूत खेले की प्रथा प्राप्त होती है। वेदों में बूत-क्रिया का वर्णन मिलता है। महाभारत में भी बूत के खेल का विशद वर्णन उपलब्ध है। 'भासदत्त' तथा 'मृच्छकटिक' आदि नाटकों में भी जुआड़ियों और जुआ के बट्टों के लोकचित्र प्राप्त होते हैं। मृच्छकटिक का संवाहक निष्णात जुआड़ी है। ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में जुआ-घर, जुआड़ी और बूत-क्रीडा के अंग-उपांगों का विशद वर्णन करके अपने लोक-

ज्ञान का अन्वेषण परिचय लिया है, १ जुआघर की पूरी हलचल और इस खेल की पूरी आरीकियों चित्रोपम रंग से वर्ण-रत्नाकर में प्राप्त होती है।

इन लोक-कौड़ा के ज्ञान के सहारे विद्यापति ने भी अपनी एक उक्ति को बाँधा है—

जार खने बितहु आलिङ्गन गाढ
जनि जुआग पसमे खेल पाढ ॥

—(प० प०, पद—१३८)

‘जुआर’ और ‘पाढ’ ये दोनों शब्द व्यूत-वर्णन के क्रम में वर्णरत्नाकर में भी प्राप्त होते हैं।^२

विद्यापति के पद का वक्तव्य है कि नायिका सोई हुई थी, इसी बीच नायक चला गया। उठने पर नायिका अपनी मखी से कहती है कि यदि वह नींद में न होती तो प्रियतम को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करती। वह प्रिय का गाढालिङ्गन काके उसे रोकने या जीतने का प्रयत्न उसी तरह करती जिस तरह जुआड़ी उत्साहपूर्वक पाधा खेलता है। हारना हुआ द्यूतकार भी उर्मंग से जीतने की सम्भावना काता हुआ अपना दौंव चञ्चता है। पाधा चलाने में वह अशान्ति ही रहता है। पद की नायिका भी आलिङ्गन का दौंव चलकर जानेवाले प्रियतम को रोक लेने की चर्चा करती है।

इस तरह हम देखते हैं कि विद्यापति के मन में पाधा चलाने वाले जुआड़ी का चित्र जमा हुआ था जिसका विनियोग उन्होंने अप्रभुत-खोजना के रूप में किया है। इस लोक-उपमान का प्रयोग करके विद्यापति श्लाघ्य सिद्ध होते हैं।

१. द्रष्टव्य वर्णरत्नाकर । ४। ‘अथ व्यूत वर्णना’, पृ० २३—२६।

२. (क) “वैदेशिक, आमनैकादि अनेक व्यसनी, अर्थी, जुआग, सदा खेलइते”
देषुअह, XXX नटिष.धुर, खेनवार, जुआर, दरडगाह, दिवाय ।”

—[वर्ण० ४। पृ० २५]

(ख) “तरें उपर ठण्ड देखे” आह, अनेक जुआर देपुअह ।” XX
“मारि मज्ज सहइते” आह, अनेक असत्य वाच्य पेलइते ।
आह, एवनिच वग्डी गवर्कःन्याथ जुआर दरवार देपुअह ।”

—[वर्णरत्नाकर । ४। पृ० २६]

(ग) “आप्रोर कइसन । निवाथोन । मेलख । बहल । भासख ।
दरल । हथवाग । पडत । पाह । बिलग । जाम”

—[वर्णरत्नाकर । ४। पृ० २५]

७ हाथी के जीवन और काय व्यापार सम्बन्धी अर्थों का निबन्धन

विद्यापति ने हाथी के कार्ग-व्यापारों और उसके जीवन से सम्बन्धित तथ्यों के आधार पर जो रूपक खड़ा किया है उसमें भी उनकी लोक-दृष्टि का ही प्रकटीकरण हुआ है। इस प्रसंग के सभी उपमान लोकाश्रित ही हैं। हृदय-रूपी हथियार, लाज-रूपी गृहला, यौवन-रूपी हाथी और मनविज-रूपी मदजल तथा प्रियतम-रूपी अकुश या प्रियतम के द्वारा अकुश लेकर यौवन-हाथी का निगमन करना एवं महावन से हाथी का भुक्तना आदि बानों के द्वारा विद्यापति हाथी ने सर्वगत लोक-चित्रों को ही चास्ता-पूर्वक प्रस्तुत करते हैं।^१

लोक-काव्य 'ढोला मारु राडूहा' में भी यौवन-रूपी हाथी और प्रियतम के अकुश की कल्पना प्राप्त होती है:—

राडूही, त्रे राजर्वेय मिलाइ, तूँ दागविशा जात ।

यौवन-रूपी यत् अकुश तूँ लख घोरजाइ ॥२१५॥

विद्यापति यास्क्या हाथी से प्रियतम के लिए यद्यपि जो कि हे हाडी, यद्यपि राजा मिलै से लगन रहना कि यौवन-रूपी हाथी पर यत् चढ़ गया है अतः तुम अकुश लेकर बर जा जाओ।

विद्यापति ने हाथी-सम्बन्धी अप्रस्तुत-योजना का साङ्ग चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु उत्तर 'ढोला-मारु राडूहा' के इस 'बणे पुराणे' दूहे का प्रभाव भी परिलक्षित किया जा सकता है।

कनक मडल हृदय-हाथियार ।

ते फिर बम्भ पयोधर मार ॥२॥

लाज-सिकर धर उड कष सोण ।

अत्यक बचन हलइ अनु कोण ॥४॥

दूर कर जगे सबि चिन्ता आन ।

एताज-दासि दहिय अथमान ॥६॥

मनसि जन्म-र कर जग-अमान ।

यौ हाँस, भियार-हाँस गण ॥८॥

नाक न समार ताँ गणार ।

मुसल मानहति फानस गण ॥१०॥

अन्त दिधाप त सुसु माँमान ।

हाथि महेने नव वी गण ॥१२॥

(लेनापुरी, पद-२१-२२)

१. न्याय-विकारणिक कल्पना .

सूक्ष्मकटिफ में न्याय-व्य और न्याय-विवि के लोक-संपृक्त गिन मिलते हैं ; विद्यापति के भी एक पद में लोक-जीवन में ही अनुप्राणित न्याय-विकारणिक या पंचाद्यत-सम्बन्धी कल्पना या अर्थ-योजना मिलती है ।

मृत्यु-वर्णन करने हुए विद्यापति ने जीत-वसन के विवाद का चित्र खींचा है । बायी वसंत को फरिदाद दक्षिण पवन के बहने के रूप में है । मध्यस्थ या पंच-सूर्य है तथा द्विजवर कोकिल साक्षी है जो वसंत के पक्ष में गवाही दे रहा है । वसंत के नए पल्लव जयपत्र की तरह हैं । मधुकरों की पंक्ति उस जयपत्र को अक्षर-पंक्ति के रूप में है । बायी वसंत से प्रतिवादी जीत भीत हो गया है । अनुपम कुम्भकृमुच के विकास के रूप में वसंत अपनी जीत को व्यक्त कर रहा है ।^१

हीनकाल को हटाकर अतंत के जीतने को बात को विद्यारान ने मुहूर्त-मुहूर्त, पंचाद्यत, पंच, गवाह, जयपत्र, जयलेख आदि की लोक-कल्पना में अभिव्यक्त किया है । विद्यापति की इस अप्रस्तुत-योजना और अर्थ-योजना का आकर-जीत जीत-जीवन ही है ।

उपर के पक्ष में मध्य-य विचार को चर्चा आई है । विद्यापति के एक मध्य पद में भी मध्य-य का प्रसंग आया है—'अधिरक आतर मध्य लजाइ ॥'—[प० प०, पद-१२८] । विद्यापति की इस लोकोक्ति में लोक-जीवन की पंचाद्यत-सम्बन्धी बात का ही संकेत मिलता है ।

१. उखित पवन पद १२८ दिख रोळ ।

से जनि वादी वाप भोज ॥१॥

मनमथ का साधन नहि आन ।

निगमाधर मे मागनि वरन ॥२॥

गाइ हे सीन-वर्तन रिवाइ ।

कपोन निवाण जय-अपलाइ ॥३॥

दुर रिख मधुप दिवाकर भोज ।

दुजवर कोकिल सास्य देल ॥४॥

नव पल्लव जयपत्रक भोति ।

मृहर-माया आखण-पालि ॥५॥

वाग पद प्रतिपाटी गात ।

विद्यार-विन्दु का धरन सीत ॥६॥

मृद-कृमुच मजुपरा विकस्येव ।

लनन जीत पैक वासो वर्तन ॥७॥

विद्यापति यह जानते हैं कि मध्यस्थ की बात को दोनों पक्षवाले मानते हैं किन्तु अस्थिर लोगों का बीच-बचाव या न्याय करने वाला मध्यस्थ लज्जित हो जाता है, क्योंकि अस्थिरचित्तवालों के बीच उसकी बात का पालन नहीं हो पाता है ।

६. बंसवाड़ी की हाँडी

विद्यापति ने बाँस की बीट या बंसवाड़ी तथा उसमें फेकी गई त्याज्य और उपेक्षित हाँडी का भी निरीक्षण किया है । विद्यापति की एक नायिका का वक्तव्य है कि उसे बंसवाड़ी की हाँडी के समान अर्थार्थ और त्याज्य बना दिया गया है ।^१

१०. ढोंढ साँप

विद्यापति ने एक पद में गर्वीले जलसर्प ढोंढ या दुण्डुभ का प्रसंग उपस्थित किया है । यह निर्विष किन्तु विषगर्वी साँप डाबरो में प्रायः मिल जाता है । सत्त्वहीन घमडी व्यक्ति पर व्यस्य करने के लिए विद्यापति ने ढोंढ के लोक-चित्र को ठीक ही चुना है ।^२

११. लोक-संस्कृति के इतर पक्ष

विद्यापति-पदावली में लोक-संस्कृति की पूरी छाप देखी जा सकती है । लोक-परंपरा, लोक-विश्वास, लोक-प्रथा, लोक-व्यवसाय आदि 'फोकलोर' के विविध अंगों के आधार पर विद्यापति ने अपने अर्थों का निबन्धन किया है ।

(अ) लोक-विश्वास और अन्धविश्वास

फलित ज्योतिष और जादिम विश्वासों ने सम्बद्ध तत्त्वों में जनसामान्य के मूढाग्रहों और अन्धविश्वासों के विविध पक्ष उद्दिष्ट होते हैं । लोक मानस की इन बद्धमूल अन्धपरम्पराओं को अकुन अकुकुन, मत्र-तत्र, टायन, प्रेत, टोना-टोटका तथा शुभाशुभ-सवयी धारणाओं में देखा जा सकता है । इन लोक-विश्वासों में जनता का जातिगत मनोनिधान अनिव्यजित होता है ।

१. फल पत्रोत्त कप नोद सनि सा ।

कणल ह हाँडी बाँसक बीट ॥

—[पदावली, पद—२७]

२. हम तह के विषहु आर

ढोंढहु का (यक भान ।

(१) शकुन-क-काक-शकुन :—'शकुन' का अर्थ पक्षी ही होता है। बहुतेरे पक्षियों से संबद्ध लोक-विश्वास भारतीय जीवन में घर किए हुए हैं। कौए की बोली शकुन-सूचिका मानी गई है। कौए के बोलने से संबद्ध लोक-विश्वास यह है कि इसका बोलना परदेशी प्रियतम के आने का सूचक होता है।

भारतीय साहित्य में विरहिणी नायिकाओं का कौए से पूरा लगाव देखा जा सकता है। कभी तो कौए को उड़ाते-उड़ाते नायिकाएँ उसकी जान मॉसत में डाल देनी है, तो कभी उसे तरह-तरह के प्रलोभन और आश्वासन देनी है कि प्रियतम के आने पर उसे अमूक-अमूक पदार्थ दिए जाएंगे। कौए पर प्रसन्न होकर नायिकाएँ उसे बलि देनी हैं। 'कामसूत्र' में भी 'वायसपूजा' का संकेत मिलता है।^१

'वज्रनालग' की एक माथा में मरीचिन प्रोखिनपतिका प्रियतम के आने का शकुन जानने के लिए कौए को उड़ाती है। उड़ने के बाद कौआ पुनः आकर बैठ जाता है। इस शुभशकुन में प्रियतम का आना व्यंजित होता है। नायिका कौए को बलि देना चाहती है किन्तु उस विपत्ता के पास खाने की कोई भी चीज नहीं है जिससे वह कौए को पुरस्कृत करे। अपनी इस दुखस्था पर वह इतना रुदन करती है जितना उसने वायव-मरण पर भी नहीं किया था।^२

दिव्यदृष्टि धारित के अश्रुश-काव्य 'पद्मसिरी चरित' में विरहिणी पद्मश्री कौए से कहती है कि उसके शकुन-भाषण से यदि प्रिय या जागृता नों वह उसे दही-भात खिलाएगी।^३

१. वायसपूजा च ॥२३॥

वायमेति । शकुन्य प्रतिज्ञान, संक्राम नायम । बल्लभे समामने पिपट ने दाभ्यामाति नदिदं प्रतिज्ञात गृहगति । ५१॥

[कामसूत्र, अधिकरण ३, अ० २, सूत्र ५१ : जयमङ्गला ट का]

२. बन्धव मरणे निहहा दुःखयविरिणीं विनतहा रुण । भक्षण बलि बिलक्ये बल्लहकार समुत्थीणे ॥

[वज्रनालग (सुषरिणी वज्रा) । ४६६ ।]

३. द्रष्टव्य पद्मसिरी चरित * ३.४ । डॉ० हरिवंश कोखर ने इस प्रसंग का अनुवाद इस प्रकार किया है :—“पद्मश्री कभी उद्योतिषियों से पूछती है कि मेरा पति कब लौटेगा ? कभी कौए को सवाधन करती है कि यदि तुम्हारे शब्द से पति आ गया तो मैं तुम्हें दही-भात खिलाऊँगी। आँसुओं से गालों पर बहते बड़े बड़े भौंभुओं से पद्मश्री दिन-प्रतिदिन जीय होने लगी और कृष्णपक्ष की निस्तेजचंद्रलेखा के समान हो गई।”

[अपभ्रंश-साहित्य, पृ० २०३]

प्रियतम के आने के शुभ शकुन के रूप में आँखों का फड़कना और कौए का बोलना ज्ञात होता है, फिर भी वह दूरस्थ प्रिय के आने के संबंध में आश्चर्य नहीं हो पाती है ।^१

काक-शकुन-सर्वधी लोक-विश्राम को हम विद्यापति के पदों में भी देख सकते हैं । प्रवासी प्रियतम यदि कौए के बोलने से आ जाएगा तो विद्यापति के पद की विरहिणी कौए को सोने के कटोरे में खाँड़-मिश्रित दूध देने की प्रतिज्ञा करती है ।^२

विद्यापति के एक अन्य पद में आँगन के चंदन-वृक्ष पर चढ़कर बोलने वाले काग से प्रोपित-पतिका कहती है कि यदि प्रियतम आज आ जाएगा तो वह काग की चोच को सोने से सँववा देगी ।^३

(ख) शुभ शकुन अँगों और आँखों का फड़कना — यह लोक-विश्वास है कि स्त्रियों के बाएँ अँगों का फड़कना भंगलमय होता है । 'गाथा-सप्तशती' की एक विरहिणी अपनी कड़कती हुई बाईं आँख से कहती है कि यदि इस शुभ शकुन के फलस्वरूप उसका प्रिय आ जाएगा तो वह दाहिने आँख को बन्द करके बाईं से ही प्रिय का दर्शन करके उस आँख को आयायित और पुरस्कृत करेगी ।^४

हर कवि ने राधा को बाएँ नेत्र से ही कृष्ण का दर्शन करती हुई चित्रित किया है क्योंकि उसी नेत्र ने फड़ककर सब अभ्युदय की सूचना दी थी ।^५

१. आँख निर्मोखी क्या करइ, कउका लवइ निगउन ।

सउ जोउन साहिब ब्रमइ, सो किम आवइ अउज ॥ (तोला० ५२० ॥)

२. काक भाख निज भाखह रे पटु आओत मोरा ।

खीर खाँड भोजन देव रे भरि कनक कटोरा ॥१०॥—(बेनीपुरी, पद-१६०)

३. मोरा रे अँगनमा चनन केरि गछिया

साहि चडि कुरुरय काम रे ।

सोने चोच बाधि देव तोयँ बायत

जअँ पिया आओत आज रे ॥२॥—(बेनीपुरी, पद-२२२)

४. फुरिप वामच्छि तुए जइ एडिह सो पिओज्जता सुदरं ।

संनोलिअ दाहिणअ तुइ अवि पइं पलोइसं ॥

—[गाथा—सप्तशती ॥२॥७॥]

५. बेनैव सूचितनवाभ्युदयप्रसंगा

मीनाहति स्फुटिततामर सोपमेन ।

अभ्यं निमीलय नयनं मुदितैव राधा

वामेन तेन नयनेन ददर्श कृष्णम् ॥

भाव रत्नायामनाय न चर्हता तापम तयो जमती तनी
और आलिंगन करती हुई । वरुण, जो गोपीका का भिक्षुण किया है, जिसे वाङ्मय
फड़कने से प्रिय संगम का संकट विनाश हो गया है ।'

विद्यापति की एक नायिका के भी वापस हृदय, कुम्भ और लोचन फड़क
रहे है जिन्हे लक्षित करके मावी प्रगल्भय अनुन हा ज्ञापन करती है ।'

अंगो के फड़कने के वर्णन 'ढोला-मारुरा ददा' में भी प्राप्त होते हैं ।'

(ग) यात्रा-सम्बन्धी शकुनः--छीक होने पर कही नहो जाना
चाहिए, यह लोकविश्वास है । छीक को अरनकुन माना जाता है ।

विद्यापति के एक पद का प्रसंग है कि एक गोपी छीक होने पर भी
गोरस आदि बेचने के लिए घर से चलती है किन्तु कृष्ण की मुरली-ध्वनि
सुनकर उसे अपनी वस्तुओं की विक्री से रन्धे हो जाता है । पद के वर्णन के
अनुसार छीक से भी अधिक मुरली-ध्वनि गोपी का अवरोध और अनिष्ट करती
है । गोपी गिर जाती है और उसके चरण कोंटों से क्षत-विधत हो
जाते हैं ।'

१ अणमति परयात जुम्वात सग्लायत पुलक मुकुलितेयः ।
प्रियानंगमाथ रफुरिता विद्योगिनी वामवाङ्गलताम् ॥

—(आषा सप्तमती ३४७)

विद्यारी ने भी शुभशकुन मूलक वामभुजा-मुकुलण का उल्लेख किया है —
वाम बाहु फरकत मिलौ, जो डगि जीवन मुरि ।
तौ नोही भी भेदिबाँ, रामि दाहिनी मुरि ॥

२ गुक्रण नथन अन्ध करि आश्रौण
बाधय नेमिर विसेय ।
तुअ उर भुरत वाम कुच लोचन
बहु भगन करि लेख ॥ ५ ॥

—[देनापुरी, पद—१०७]

३ द्रष्टव्य 'ढोला-मारुरा ददा', दृशा—स० ५१६ से ५२० तक ।

४ गोरम बिरस बासी विसेमल
द्विकटु ब्राह्म गेह ।
मुरलि गुनि सुनि मो मन मोहन
विकटु भेल सदेह ॥४॥
तीर तरगिन कदम्ब—कानन
निकट जमुना—घाट ।
उलटि हेरदत उलटि परनश्री
अरन चीगल कोट ॥५॥

—[देनापुरी, पद—३७]

विद्यापति की एक लोकावृत्ति में भी छौंक सवधी लोक विश्वास व्यक्त हुआ है--“छिक्कहि नहिं चली ।” --[न० गु०, पद-६६]

(ब) तारा और चन्द्र-दर्शन-सम्बन्धी अमंगल या अपशकुन-अकेले तारे को देखना अशुभ मन्दाका जाता है । हम लोक-विश्वास का प्रकाशन विद्यापति की इन लोकोक्ति में हुआ है--“एकसरि तारा केअओ नहिं देख ।” [न० गु० पद--५३६]

एक अन्य पद में मध्या के अकेले तारे और भाद्रपद की चतुर्थी के चाँद को अपस्तुन-योजना के रूप में लाकर विद्यापति ने इनमें सम्बन्धित अमंगलपरक लोक-विश्वास का प्रकटीकरण किया है ।

पद का वस्तुव्य है कि किरी नायिका ने उसका प्रियतम हट गया है और उसके झूठ को और नहीं देखना है । नायिका कहती है कि क्या उसका भ्रान्त अकेले मध्या-ताम्र या भाद्रो की चतुर्थी के चाँद के समान है जो प्रियतम उसकी ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं ? नायिका की पृच्छा है कि इन दोनों अमंगल-सूचक पदार्थों में से नायिका का मुख किसके समान है जो नायक उससे परावृत्त है ?^१

‘प्रयत्नराघव’ में भी चतुर्थी के चाँद को नहीं देखने के लोक-विश्वास का इस प्रकार उल्लेख मिलता है —

उदकभूतिभिच्छिद्रः मद्रि खलु न दृश्यते ।
चतुर्थी चन्द्रलेखेन परस्त्रीभालाट्टिका ॥^२

१२७५६

१ की इस सामक एकसरि तारा भाद्र चौठिक ससी ।
इयि दुहु माक कञ्जोल मोर भ्रान्त जे पडु हेरस न इसी ॥१॥

--[बिनीपुरी, पद-१५६]

इस पद का भाग्य-मन प्रकार भी मिलता है --
की इमें सामक एकसरि तारा, भाद्र चठिक चदा ।
अइसन कप विभा मोर मुख गवल, मो पनि जीवत मन्दा ॥

--[रिषद-५०, पद--७६, सं० अ० से]

भाद्रो को चंद्र की चाँद और अकला तारा, ये दोनों अदर्शनीय अथवा अशुभ समझे जाते हैं । इसी लोक-विश्वास का यहाँ काव्यात्मक प्रयोग हुआ है ।

--[लेखक]

२. पनत्र गारन, मसम जेक, ५० १२५ ।

सुलमीदस ने भी प्रमत्तराघव की एम उक्ति से प्रभावित होकर पर-नारी के आनन को शीघ्र के चाँट की तरह त्याग्य और अदर्शनीय बतलाया है । *

(१) वागिज्य-जगन् के शकुनपूजक विश्वास-विद्यापति की कतिपय लोकोक्तिषों में 'बेहनी' के विषय में दुःखानशरों के बद्धमूल विदधानों की अभिव्यक्ति हुई है । 'जड़मन परहोक तड़मन बीरु', 'पहिल पड़जोक मला के साथ' 'पहिले पड़जोक उधारिन देग' आदि कहावतों में न्यावमायिक श्रेत्रों का यही परंपरागत शकुन-विचार सन्निहित है कि 'बेहनी' की सफलता पर ही व्यवसाय की सिद्धि निर्भर करती है, अतः पहली विही नकद ही तही लक्षण-सम्पन्न व्यक्ति के हाथों होनी चाहिए ।

(२) भूत-प्रेत-डायन-सम्बन्धी लोकविश्वास और झाड़-फूंक अंधविश्वास और तंत्र-मंत्र :—

(क) भूत-प्रेत:—विद्यापति के युग में भूत-प्रेत पर विश्वास किया जाता था । किता पर भूत का आवल आने पर उस युग में भी आज की ही तरह झाड़-फूंक करके प्रेत शान्त दूर की जाती थी । ओभाइन ओभा आदि प्रेत उतारने का मंत्र पढ़कर प्रेत को पछाड़ते थे ।

इस अंधविश्वास का विद्यापति ने छोड़े अंग्य-विद्रूप के साथ चित्र खींचा है । उनके एक पद का यह प्रसंग है कि कृष्ण 'देवदेयासिनि' या झाड़-फूंक करनेवाला स्त्री का रूप धारण करके गोकुल में घूम रहे हैं । पूरे नगर में यह बात फैल गई है कि ओभाइन आई हुई है । इसी रूप में कृष्ण अपनी प्रेमिका के द्वार पर आकर खड़ हो जाते हैं । प्रेमिका प्रेत-बाधा से अपने को पीड़िता वर्णित करती है । सास 'देवदेयासिनि' को झाड़-फूंक करने के लिए घर के भीतर ले जाती है । नायिका पर अतनु-देव अर्थात् कामदेव का आवेश हुआ है जिस निर्जैत में मंत्र पढ़कर झाड़ने की बात 'देवदेयासिनि'

१. चतुर्थी के गद और पर-नारी के सुवन्द की श्राव दृष्टिान करना अकल्याणकारो होना है । आवश्यकतावत्त ही सम्झते हैं,—

ना आनन शिखर कन्याना ।

चतुर्थी समय न श्रम गति सुख साधा ॥

ना प नागम सिन्हा गोसाई ।

पुत्र नौथ क उंड का चार्ड ॥

[११११/११११११, १११११११, १११११११]

कहती है एकात्मक कृपा अर्थात् मन्त्र पढ़कर अनगदेव को भाडकर नायिका का उपचार करते हैं देव बाधा दूर हाती है और साम बहुत भक्ति-पूर्वक 'देवदेयासिनि' को भीख देती है ।^१

यहाँ देव का आवेश, भाड़-फूँक करनेवाली, मन्त्र-प्रयोग, लोक-जीवन में 'देवदेयासिनि' के प्रति निष्ठा आदि के प्रसंग लोक-जीवन के अंधविश्वास को सूचना देते हैं ।

त्रिद्यापति ने नायक-नायिका के समागम की इस विशेष युक्ति को किञ्चित् हँसी-ठट्टे के स्वर में चित्रित किया है । कदाचित् वे भूत, देव आदि को इकोमला ही मानते हैं ।

प्रेतात्माओं और उनका दर्शन करानेवाले करामाती लोगो का उल्लेख 'कीर्तिरत्ना' में भी हुआ है—“मखदूम तरावइ दोम जत्रो हाय ददस दस पारओ ॥—(कीर्तिरत्ना, २।१२०। डॉ० वा० स० अग्रवाल, पृ० १०५) ।

यहाँ प्रेतावाहन करनेवाले या 'हदस' अर्थात् हाजिरात करनेवाले मखदूम के क्रियाकलापो का वर्णन किया गया है । यह 'मखदूम' 'नरकपति' की ही कोटि का पेशेवर प्रेत-विद्या-विशारद है, जो शीघ्रतापूर्वक अंगूठी के नम में मृनात्माओं को दिखलाता है जिससे देखनेवाले संतापित और भीत होते हैं । जौनपुर के बाजार में ऐसे चमत्कारी मखदूम का वर्णन स्वाभाविक ही है ।

१. गोकुद देवदेयासिनि आमोल नगरहि गेसे पुकारि ।
 अरुल वसन पैन्डि जटिल प्रेस परि कान्ह द्वार माक ठारि ॥१॥
 मुनि धनि जटिला तुरति चल आओल टेरउत चमकित भेल ।
 हमर बुक रीति देखि जनि आनमनि कहि मंदिर लइ गेल ॥४॥
 देवदेयासिनि कान ।
 जटिला अचन मुवामुखि निथरहि एक दीठि हेरइ बयान ॥६॥
 कह तत्र अतनु देव इथे पाओल हृदि-मधि पडसल काल ।
 निरजन छोड मंत्र जद माडिष तत्र इह होएव भाल ॥७॥
 एत मुनि जटिला धर दोहे लेअल निरजन दुहु एक ठाम ।
 सब जन निकसल बाहर बरसल पुरल कान्ह मन काम ॥१०॥
 बहु खन अतनु नत्र पदि भारल भागल सब सेहो देवा ।
 देवदेयासिनि वर मथे निकसल चातुरि बूझल केवा ॥१२॥
 जटिला बहुत भक्ति करि हरखिन कतक भीख आनि दैल ।
 कह कबिसेखर भीख लिए तत्र सेहो देयासिनि गेल ॥१४॥

इस पद में शक के लो, पा, अ, ची मन्त्रों आदि से सम्बन्धित कार्य-कलापी और विद्वानों के कर्म से उत्पन्न विषय किया है ।

(२) विद्यापति के इस पद का अर्थ है कि इन्द्रवज्र शिव को देखकर गौरी भू-दत्ता हो गयी है । भविष्यी वैश्वामरी शिव से कहती है कि वे अपना गुण या सम्मोहन दूर कर लें, ताकि गौरी की मृच्छी टूटे । वे कहती हैं कि वैश्वामरी से राजकुमारी को बीठ लगा दी है । कुछ सखियाँ परामर्श देती हैं कि ओम्हा को दुकाकर नवावा चाहिए ताकि राजकुमारी पर से भूत का प्रकोप दूर हो सके, उसका सम्मोहन टूट सके ।^१

यहाँ बीठ लगाना तथा भाङ्-फूँक करने वाले ओम्हा का स्पष्ट उल्लेख है । इनसे लोक-विश्वास का ही प्रकटीकरण होता है ।

बीठ लगाने, मंत्र पढ़े जाने, ग्रह-वाधा होने और ज्योतिषी से उपचार कराने की बातें विद्यापति के एक अन्य पद में भी वर्णित है ।^२

(३) माँप के विषय की उतारने के लिए भाङ्-फूँक :—लोक-विश्वास के अनुसार माँप के टँसने पर माँत्रिक या गाखड़ी के द्वारा विष की भाङ्-फूँक की जाती है । मर्ष-विष को भाङ्ने की बात आदिम काल से ही प्रचलित है । देहान्तो से अरी भी मर्ष-दण का उपचार भाङ्-फूँक से ही होता है । भाङ्-फूँक का यह न-बुद्ध मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है ।

विद्यापति के इस पद में उक्त गथा है कि मदन-भुजंग से दग्ध बाला के विष को गाखड़ी कृष्ण हो भाङ्ग करने है । मदन-भुजंग का विष उतारने

१. दूर कर गुनगन अरे जेगशरी
 काँ छिछिअगोल राजकुमारी ।
 केओ बोल देप देते जनु काह
 केओ बोल ओना भानि (न) काह ॥ —[परिपद—५०, पत्र—२५४]
२. हे हरि घेखलौ मे बर नारि ।
 न जोवद बिनु कर-परम तोहारि ॥६॥
 केओ-केओ जपय वेद छिठि जानि ।
 केओ नबधइ पुन जोनिअ भानि ॥७॥
 केओ केओ कर धरि धानु विचारि ।
 गिरह-निखिन कोइ लखय न पारि ॥१०॥ —(बिनीपुरी, पद—५४)

वा उपग्रह मण्डल के ग्रहों की है। उन ग्रहों का प्रभाव भी है जो
उन्हें शम्भु का मालिक होने का भी गौरव है और मण्डल से सर्व भय जाता है,
इसलिए कारण से ही मदन-सुजंग का विष उत्तर सकता है।

लोक-विश्वास है कि किन्तु सर्व का मंत्र ने नहीं उतरता है।
बाल भुजंग पर मंत्र-शक्ति का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता है, इस आशय की
लोकोक्तियाँ विद्यापति के पदों में प्राप्त होती हैं।^१

सर्व-इंजन के संबन्ध में यह भी लोक-विश्वास है कि काट लेने के बाद
यदि सर्प पुनः दंशित स्थान पर काट ले तो उसके विष का प्रभाव नष्ट हो
जाता है। कदाचित् यह विश्वास 'विषस्य विषमौषधम्' के ही वर्ग का है।
सर्व-विष से संबन्धित यह लोक-विश्वास विद्यापति के भी एक पद्य में प्राप्त
होता है।^३

(ग) डायन-संबन्धी प्रवादः—बुरी-से-बुरी स्त्री भी अपने पड़ोस में
रहने वालों का बुरा नहीं करती है। चोर भी पड़ोस में चोरी नहीं करता है।

'डायन किसी को खा लेती है'—यह अश्वविश्वास है, किन्तु वह भी
अपनी पड़ोसिन का अपकार नहीं करती है, यह लोक-प्रवाद है।

विद्यापति ने भी अपने एक पद्य में डायन या बुरी स्त्री के लिए
'मन्दिउ' शब्द को प्रयुक्त किया है। पद्य की नायिका अपनी सखी से कहती है
कि डायन भी दूसरों को ही खाती है, अपनी पड़ोसिन को छोड़ देती है—उसका
अपकार नहीं करती है।^४

१. केओ वोल मन्त्र कान सर जोलि ।

केओ कोकिल खेद डाकिनि बोलि ॥५॥

अरे अरे अरे फाड़ की स्मृति बोरि ।

मदन-सुजंग डल बालहि तोरि ॥१०॥

भनत विद्यापति पड़ो रस मन ।

एहि विष मारुड़ि एक पद्य कान ॥१२॥

—(बनारसी, पद—२२१)

२. (क) "परदोष न माने जनि बाल सुभार ।"

—(न० ३०, पद—१५४)

(ख) 'मन्त्र न सुनए जनि बाल सुजंग ।

—(न० ५०, पद—२१३)

३. भुजङ्गिनि इंसि पुनः क बदि दंमय,

नबहि समय विष जाह ।

—(न० ५०, पद—१०)

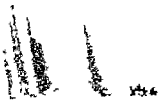
४. तजे झोठपानरि कि बोचिको तोहि

बडकए अपय चलओलए मोहि ॥

तोरा करम बरम पप साहि

मन्दिउ खाए परडमिति गृषि ॥

—(परिषद-पदावली, पद—१७)



(घ) बलि :-- धार्मिक अनुष्ठानों में या वन भी पशु-बलि या तर-बलि लोक-विश्वास का ही एक अंग है जिसका संबंध निरवयव ही तंत्र-अंधमूक आदि विधियों से स्थापित किया जा सकता है। 'कोटिलता' में मुसलमानों द्वारा 'बिसमिल्ला' कहकर पशु-बलि करने तथा हिंदुओं-द्वारा पशु-बलि का संकेत मिलता है-- 'कलहु मिमिल कनहु छेद ॥'

(कीर्ति० २।१६५। डों० अग्रवाल, पृ० ११२)

(३) पाप - पुण्य - सम्बन्धी लोक-विश्वास :-- अपने पाप-मुक्त बर्तन की सफाई देने के लिए स्वर्ण का स्पर्श करके लोगश्च स्नाना तत्र तरह से प्रामाणिक और विश्वसनीय है। सोना छुकर मिथ्याभाषण करना विद्यापति के युग के धर्मभीरु अनुष्य के लिए असंभव ही था। विद्यापति के एक पद में हम लोक-विश्वास का बड़ा ही सुन्दर विनियोग पाया जाता है:--

ए धनि माननि करहु मंजात ।

सुअ कुच हेम-घट हार भुजंगिनि ताक उतर अर हात ॥२॥

तोहे छोड़ि जदि हम परकब कोय ।

सुअ हार-नागिनि काटव मोय ॥४॥

— (बेनीपुरी, पद १३७)

यहां नर्मकुशल नायक-नायिका के निकट अपने अपराध को छिपाने और विश्वास जमाने के लिए जो गण्य ले रहा है उसमें विवेच्य लोक-विश्वास की काव्यात्मक वैदग्ध्य-सिद्धि का साधन बनाया गया है :

जिस तरह झूठ धोलनेवाला पाप-भीति से सोना नहीं छूना है उसी तरह पाप-भीत हिन्दू भी 'यम' का मानना करने में घबराना है। हिन्दू-जाति के मन में मनाशन काल से यह विश्वास घर किए हुए है कि यम के दरबार में अपने कर्मों की सफाई देनी पड़नी है और पाप के परिणाम भुगतने पड़ते हैं। मृत्यु के बाद यम के आगे जवाब देना पड़ता है, इस लोक-विश्वास को भी विद्यापति ने व्यक्त किया है:--

ए हर गोसाजि नाह ! मोहे जनु देह अपेखी ।

जम बागौं मुँह उतर डरेँ छाडत जवे बुझाओत लेखी ॥

— (प० प०—१२५)

(आ) रीति—रिवाज

इसके अंतर्गत लोककृत्यों, लोक-प्रथाओं, लोकोत्सवों आदि की गणना होती है ।

()
(क) राक्षस

जन्म, विवाह आदि सकार्य, पूजोपचारों, पढ़-पढ़ाई तथा सामूहिक भोज से संबंधित लोककृत्यों के आधार पर विद्यापति ने अपने कई पदों का सुश्रुतापूर्वक विवर्णन किया है।

(१) शिशु-जन्म — वसंत-शिशु के जन्म के अवसर पर विद्यापति ने लोकिक रीतियों का जो वर्णन किया है उसमें मिथिला के लोक-जीवन की आंचलिक विशेषताएँ विवृत हुई हैं। शिशु के जन्मोत्सव के ये विवरण बहुत विचित्रतापूर्ण और लोकपरक हैं।

विद्यापति के पद की अर्थ-योजना इस प्रकार है कि श्रीपंचमी के दिन वसंत का प्रसव गर्भवती प्रकृति करती है और तदनन्तर विविध लोकाचारों का ताँता-सा बंध जाता है। वनस्पति-रूपी धाय, जन्म के बाद भुवतियों के नृत्य, मंगल-गान, मलयानिल से शिशुके वचाव के लिए ओट करना, माधवी पुष्प की गजमुक्ता, बन्दनवार, 'महुअरि' गीत, तूर्यनाद, शखनाद, बालक को मधु चटाना, पधनाल का कटि-सूत्र-बंधन, बच्चे को बधनखा पहनाना, 'हरउद' गीत, छोरी-गायन तथा बच्चे द्वारा चंद्र-गोलक का देखा जाना, जन्मपत्री, गणित-गणना और नाचकरण आदि बातों के वर्णन में लोक-रीतियों का सम्यक् प्रकाशन हुआ है।

वसंत के शरीर पर सबटन लगने तथा आँखों में काजल लगने के वर्णन में भी लोक-व्यवहार का ही ज्ञान प्रकट होता है। महुअरि तथा हरउद-गायन, मधुचटाने, कटि-सूत्र तथा बधनखा पहनाने आदि के वर्णनों के श्रोत से नितांत लोकिक ही हैं।^१

१. माधु माधु सिद्धि पंचमी गजमुक्ता वसंत नाम पंचमी हनुआई ।
अति धन पीछा दुख गत पाधुल बसंतपति भेल धारै हे ॥१॥
सम खन बेग महुअ पंचमी दिनकर उदित-समाई ।
सोरह सम्पन बगिस लखन मुद्र जसम भेल महुअरै हे ॥४॥
नाचए जुवतिजना हूररित अल जनभल बाल भधारै हे ।
मधुर महारस महुअ गावय महुअरि भान उदारै हे ॥३॥
बह मलयानिल ओत उदित : रव वस महुओ उदियारै ।
माधवी फल भेल मुकुटा नन ने भेल बन्दनवारै ॥८॥
पंश्वरि पीडरि महुअरि गावय कातरकार पंचरै ।
नागपिपर-बंध पति पर रकर ताज महुआ ॥१०॥

(२) विवाहः—विवाह-सबधी लौकिक कृत्यों और रम्यों के भी विवरण विद्यापति के रसों में उल्लेख होते हैं। वसंत के विवाह का वर्णन भी विद्यापति ने वनज-व्रज की ही तरह रुचिर पद्धति पर किया है। लता और वृक्ष का ही मंडा या मंडवा बना है। उसकी मूर्ति को चन्द्रमा ने मानों अपनी उज्ज्वल-किरणों से श्रवणित कर दिया है अर्थात् उस पर चूना की पुताई कर दी है। भूमि पर के मांगलिक चित्र ऐपन के रूप में पक्षनाल है। विवाह में लाल परिधान पहना जाता है और यहाँ पल्लव ही रक्त परिधान है।

कानन-स्थली में वसंत-विवाह हो रहा है। अपरियाँ मंगलगान कर रही हैं। द्विजश्रेष्ठ कोकिल मंत्र पढा रहे हैं। विवाह का संकल्प पढ़ते समय जो हस्तोदक लिया जाता है वह मकरन्द है। धीर समीर और चाँद बारात वाले हैं। किशुक तोरण है। वेला के फूलों का मंगल खील या लाबा फैला हुआ है। केसर-कुमुम के पराग का ही पिदूर-दान हुआ है। मानिनियों के माग का ही योलुक या दहेज दिया गया है।^१

मधुलप नयनर बालक दण्डलु कमल-पल्लव। लता ।
 पत्रोनाग तोर सृत भावज कटि केसर कणलि वचना ॥१२॥
 नव नव पल्लव मेज ओलाओल मिर दल कठम्बक साला ।
 बैसलि भमरी हउउउ गावर चक्रा चन्द्र बिहारा ॥१४॥
 कनअ केनुष नान-पत्र निखिपरलु रामि नहृत कण लेला ।
 कोकिल मणि-गुनित मज ऊनप रितु वसंत नाम थोला ॥१६॥
 × × ×
 वाच वनन तरुन मय यागोत वडग सकल समारा ॥१७॥
 दृग्विम पवन धन अग उगारण किमन्धे कुमुन परारि ।
 सुकलित हार मगरि वन कउजल अखिगे अगन लागे ॥२०॥
 नव वसंत रितु अगुतर जौवति विद्यापति कचे गावे ।

- १ लता नहभर मंडव जाति [वेर्नपुरी, १७०]
 निरमल ससवर धालिप नीति ॥१॥
 पछेअनाल अमान मल भेत ।
 रात परीइन पल्लव डेल ॥४॥
 देखक माव रे मन धिन नाग ।
 वसन्त-विवाह काजन धान आध ॥३॥
 मधुकरि-रमनी मंगल गाव ।
 दुजवर कोकिल मंत्र पढार ॥२॥
 कळ मकरन्द हस्तोदक नीर ।
 विष्णु परिधान धीर समीर ॥३॥

वसंत के द्वाहिक संस्कार के इस वर्णन में लोकाचार का पूरा प्रकाशन हुआ है। मंडप, ऐसन, रक्त परिधान, मंगलगान, मंत्र-पाठ, हस्तोदक, बाराती, सारण, लावा सिद्धर दान, योत्रुण आदि सभी बातों के लौकिक विश्व ही दृष्टिगत होते हैं।

एक दूसरे पद में भी वसंत-दुलहे के विवाह का लौकिक वर्णन मिलता है। उसके बैठने के लिए गल्लव का पादपीठ या आसन है। श्वेत कमल ही मानते उसे अव्यक्त पुरहर या मंगल-कल्प है। मकरन्द ही गंगाजल है। लाठ अवाक के फल ही दीप हैं। अच्छा दिन ही शुभ लग्न है। वर वसंत का 'सुमाश्री' हो रहा है। मधुर्ण चौद ही दही का थका है। घूम-घूम कर अमरा 'हकार' या बुलावा देरही है कि इस अवसर पर मित्रियाँ जुटें। किशुक का फूँट ही सिद्धर के समान जान पड़ता है। बैतकी के पराग से ही पटवास नामक सिद्धर का शृंगार वधू की माँ में किया गया है।^१

यहाँ पुरहर, गंगाजल, दीप, सुमाश्री, दही, हंकार, सिद्धर, पटवास आदि के वर्णन से विशाह की लौकिक रीतियाँ हमारे सामने स्पष्ट हो जाती हैं।

कनक किशुक सुति नोरन तल ।
लावा रिपरल बोलक फुद ॥१२॥
केसर कुसुम म म सिद्धर दान ।
अश्रोतुक पाश्री. मानिन मान ॥१४॥
खेनए कोतुक नव पंचधान ।
विशापति कवि टड कए मान ॥१६॥

—[बिनापुरी, १६—१७७]

अभिनव पल्लव वरसक इल ।
धवल कमल पुन पुरहर भेल ॥११॥
म मकरन्द अशकिलि परि ।
अदथ मसोप त. २. मान ॥१०॥
नई ह मार दिखर धुनमा ।
परिग सुमाश्री. मय बपल ॥१३॥
पुन सुधानि इधि म. मे. ।
रधि मनि पसि टु कर. ल. म. ।
टेपु कुसुम मिन म मय मान ।
केतिक-धुलि विमहु परवान ॥१५॥

—[बिनापुरी - १७७]

शिव-विवाह के वणन में भी लौकिक रीतियों को विद्यापति ने संकेतित किया है। शिव बसहा पर चढ़कर आए हैं, जिसके खुर टपर-टपर बज रहे हैं और उनका हँडमाल लटखटा रहा है। भाँग खाए हुए डमरू बजाते गिर आए हैं। उनको देखकर सात ने ऐसन मिटा दिया है और पुरहर फोड़ दिया है। अब चोमुख दीप कैसे बले ? पुत्रो को लेकर कुपिता 'मनाइन' मण्डप में बैठी है।

यहाँ ऐसन, पुरहर, चोमुख दीप आदि के प्रसंग लोकपरक ही हैं।

डॉ० तेजनारायण लाल ने पुरहर, पातिल, ऐसन या 'अरिपन' आदि की शैव-प्रतीकों के रूप में व्याख्या करते हुए लिखा है :—“मिथिला में विवाह-संस्कार के समय 'पुरहर' (कलश पर चित्रण) और पातिल (एक मिट्टी का छोटा बर्तन जिसे लाल रंग से रँग देते हैं) का प्रयोग होता है। 'पुरहर' को पुरारी यानी 'शिव' और पातिल का 'पार्वती' के रूप में लिया जाय तो इससे शैवधर्म का प्रभाव दीख पड़ता है। मण्डप की सतह पर जो 'अरिपन' बनाया जाता है वह शब्द 'अरिपान' का अन्वय रूप जान पड़ता है। 'अरिपान' से तात्पर्य है—'कुण्डलिनी' का प्रतीक। 'कमल' के फूल का जो चित्र बनाया जाता है वह हृदय का संकेत है और मणिपुर नाशिकुण्ड का।”^२

ऐसन वस्तुतः मिथिला की भूमि-संज्ञक-कला है। इस भूमि-चित्र-कला की उत्पत्ता बंगाल की अल्पना लोक-कला, उत्तर प्रदेश की चौक पुराने की कला, महाराष्ट्र-गुजरात की रंगोली कला, राजस्थान के मेहडी भाँड़ने और दक्षिण भारत के कोलम भू-चित्रों से की जा सकती है।

पुरहर पर का चित्रण भी लोक-कला का ही नमूना है। मिथिला के कोहबर-घरों में पित्तियाँ पर लोकर-कला के स्वच्छंद रूपों को देखा जा सकता है। पुरो ने बनने वाली कथाओं पर भी कवीश काढ़कर जो चित्र बनाए जाते हैं उनमें लोक-कला के मौलिक और प्राणवान रूपों की प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ती है।

१. यदि विधि व्यक्त यात्री एहन बाउर जोगी ।

टपर-उपर का बसहा आबल खट-खटर हँडमाल ॥

भकर भकर शिव भाग अकोलधि डमरू लेल कर लाय ॥

पपन मेहन पुरहर फेगल कर किनि चोमुख दीप ॥

चित्रा ले मनाइनि मण्डप बसति गाविय जनु सखि गीत ॥

अन विद्या गनि सुन ए मनाइनि ई यिका चिभुवन ईस ॥

—(बैनीपुरी, पद—२४४)

२. दशम्य 'मैथिली लोकगीतों का अध्ययन' [डॉ० श्री० ना० लाल], पृ० ६१ ।

वर्ण स्थापन भा विद्या कर्म म र व म
 शास्त्रीय विधिया पर अथिक्त - तत प्रथम ॥५॥ पर ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ लोकाचार ता
 वह रूप नहीं है जा विद्यापति के योनि से बना व योनि है । प्रथम आज
 और मिथुन-प्रात के उल्लेखों को ही लोकाचार का मर्म है ।

जीतिनीश्वर के वर्णन में अथिक्त अथिक्त-कर्म वर्णन विद्यापीठ के हैं ।

(३) पूजोपचार - प्राद्यन-कुशोत्तम, तपित अथ और मिथिला के
 धार्मिक वातावरण के ही विद्यापीठ की स्थापना में प्रथम-योजना में उनका
 व्यक्तित्व, वातावरण तथा वर्णोपाय के रूप में उपचार का प्रकाशन हुआ है—
 लोचन नीर तटति निरमाने । ॥१॥ लक्ष्मीं तटति निरमाने ॥२॥
 सरस मृनाल कण्ड जगताया । अथिक्त तटति नाम गाढारा ॥३॥
 वृन्दावन कान्द धनि ता करई । हृदय-वेदि मदनानक बरई ॥६॥
 जिद कर ममिध समर कर आगी । दरति लेश बर होएबह भागी ॥८॥
 विकुर बरहि रे सगति कर लेखई । फड टागर पयोपर देखई ॥१०॥
 मनइ विद्यापति सुनइ गुनारी । सुन पथ देखत अन्धि कर नारी ॥१२॥

—(वेदानुगी, पद— २१०)

इस श्रृंगारिक पद में यज्ञीय या पूजन-स्वप्ना का समाहार मिलता
 है । यह एक विद्योगिनो का विषय है जिसमें कर्णोपाय के लौकिक कृत्यों से सबद्ध
 विम्बों का सुन्दर प्रयोग लक्षित किया जा सकता है । वैदिक पूजा-पद्धति में
 लौकिक परंपरा का यह दिग्दर्शन अन्तर्विरोधमूलक नहीं, यद्यपि लोक-स्वीकृति
 का परिचायक है । गृह्यसूत्रों में ही नहीं इतर मीमांसा-ग्रंथों में भी लोक-
 कृत्यों को आत्मसात् कर लिया गया है तथा वेद-विहित विधियाँ भी लोक-
 जीवन तक पहुँच कर 'लोक' की संपत्ति बन गई है ।

किरहिणी लोचनों के नीर से नदी का निर्माण कर्मके उममें नहाती है ।
 हाथों के लीलामल या मृनाल का बह सुगन्ध या जगताला बनाती है ।
 वह दिन-रात हरिनाम जपती रहती है । तटति 'तटति' शब्द ही नहीं प्रेमी
 कृष्ण भी हैं । वह धन्या तापसी वृन्दावन में उल कर रही है । उसकी हृदय-
 वेदिका में कामानन्द जल रहा है । अपने नाम को तपिता या लक्ष्मी तथा
 स्मरण की अरणी बनाकर वह नायिका होम कर रही है ।

१. [क] द्रष्टव्य वर्ण स्थापन ॥ ५ अथ विद्या कर्म वर्णनः पृ. ३०—३४

[ख] 'सवना' या 'लाजा होम' का योनि-संज्ञक शब्द

लोकाचार-अर्थ ही है ।—[लेखक]

यहाँ बह-केतुभार के लिए, दून को कल्पना प्रयुक्त हुई है, कि नायिका शिखि-पुच्छ के समान केतु-फलप को कुश की तरह हाथों में लिए है। वह प्रेम-पुजारित पूजा के कनोपहार के रूप में पयोधरों का निर्मात्य चढ़ा रही है।

इस पूरे पद में पूजागचार की विधियों और सामग्रियों से ही बिम्ब का चयन किया गया है। स्नान करके पूजा करने, सुमरणी, जप, तप, वेदिका में आग के धरतने, मन्त्रिणा, अरणी, होम, कुश, उपहार आदि के चित्रों से धार्मिक पूजन-विधि के मन्त्रों का ही निबन्धन दृष्टिगत होना है।

(४) युद्ध-रीतियाँ—त्रिद्यापति के निम्नलिखित पद में सैन्य-व्यवहारों और युद्ध-सम्बन्धी लोकाधारों से अप्रमत्तुनों का चयन किया गया है—

त्रिबलि तरंगिनि पुर दुग्गम जानि मनमथ पत्र पठाऊ ।
जोबन-दलपति ताहि समर लागि ऋतुपति दूत बढ़ाऊ ॥२॥
माधव, अब देखु साजिए वाला ।
तमु सैसव तोहे जे सतारल से अब आभोत पाला ॥४॥
कुण्डल चक्र तिलक अंकुष कए चन्दन कवच अभिरामा ।
नयन कमल कटाख बान वए साजि रहल अछि बामा ॥६॥
मुन्दरि साजि खेन चलि आइलि, विद्यापति कवि भाने ।

—(बेनीपुरी, पद—१००)

त्रिबली ही खाई है। कामदेव ने पत्र प्रेषित किया है। यौवन ही बलाधिकृत है। वसन्त दून के रंग में आया है। मुन्दरी युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार है। कुण्डल के तिलक, अंकुष तथा चन्दन-लेप के कवच एवं चितवन-बाण के साथ युवनी युद्ध के लिए बिल्कुल सन्नद्ध है। शरंगार के प्रसंग में युद्ध-सम्बन्धी ये बिम्ब तब ही काव्यात्मक हैं।

'कीर्तिकला' के दौर रस के कवि और राजाधित तथा विश्रुत राज-पुरुष विद्यापति यदि सैन्य-कल्पना का प्रयोग करते हैं तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है। कवि के मन में सामन्तीय युद्ध-व्यवस्था के जो संस्कार हैं वे ही इस पद के बिम्ब-निधान ने शिष्ट हुए हैं।

यहाँ पञ्च-प्राण, दून-प्राण आदि युद्ध-रीतियों के संकेत के साथ-साथ खाई, दलरति, अम्ब-शम्भ आदि के बिम्बों से जिस युद्ध-वृत्त्य का परिचय प्राप्त होता है उसका स्वल्प लोकाधार ही है।

(५) गार्भोज—विद्यापति ने निर्माता का भोजन सफल कर लोक रीति में आसी अभिजात, परन्तु पातक प्रसन्न है—

सहजहि सहज परबस पैष

गानत भीत गणपति गेरत — (१० पं० । ७६)

धर्मशास्त्रानुसार आद्व में भोजन करना सगा है किन्तु यह भी सब है कि बिना ब्राह्मणों के भोजन किए आद्व-कार्य पूरा होती नहीं सकता है। विद्यापति इस लोक-अध्यक्ष से अनभिज्ञ नहीं हैं कि कितने क्रम करने के बाद भोजन खाना धर्मशास्त्र से विहित नहीं होने के कारण गान रीति है, किन्तु पातक से डरते हुए भी आद्व-भोजन खाया ही जाता है। कवि ने लोक-जीवन के आद्व-भोजन का दृष्टांत देकर संकटापन्न परबस परकीया-प्रेम या परपुरप-प्रेम करने की बाध्यता का निरूपण किया है।

(ख) लोक-प्रथाएँ

(१) ब्रह्म विवाह—बृद्ध वर के साथ तरुणी का विवाह तथा तरुणी के साथ बालक का विवाह अद्व-रचनापूर्ण लोक-प्रथा के ही अन्तर्गत आते हैं। विद्यापति-पदावली में लोक-जीवन की इस विषयता की साहित्यिक आलोचना प्राप्त होती है। कवि ने इस दृष्टि लोक-प्रथा को उपशास्त्रान्त संदर्भों में रखकर उप-पर प्रयत्नचिह्न लगाने का साहस दिखलाया है।

महाप्राणी-

विद्यापति के साहित्य में अपने बूढ़े जानाता शिव का देखकर क्रुद्ध हो जानेवाली 'मनाइन' का जो चित्र प्राप्त होता है वह पुत्री की हिंसकामता में अग्र रहनेवाली ममतामयी माँ का प्रतिनिधित्व करनेवाला है। 'मनाइन' अपनी पार्वती को बूढ़े वर के हाथों में सोपने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। नवयुवती पार्वती और बृद्ध शिव के परिणय का वह प्रबल विरोध करनेवाली दिखलाई गई है। नारद-जैसे ऋषि को वह खरी खोटी ही नहीं मुनाती है बल्कि उसको दाड़ी नीचने का इरादा करती है। वह वर में रार मचा देती है और अपनी पुत्री के साथ गृह-परित्याग को उद्यत हो जाती है। सात्विक क्रोध से बिकरी हुई 'मनाइन' बूढ़े वर और उसको बारात का अनादर करने के लिए कृतसंकल्प जान पड़ती है और उसके वक्तव्य में बृद्ध-विवाह की सामाजिक कुत्सीति पर कक्षाघात करने की अपूर्व क्षमता दृष्टिगत होती है—

हम नहि आजु रहब एहि अँगन जो बुढ़ होएत जमाई, ने माई ।

एक त बरहि भेल कीब विद्याता कोये बिदा कै जाय ।

नेसरे बहरि भेल नारद बाभन जे वढ आनल जमाई, ने माई ।
 पहिलुक बाजन डामरु तोरब दोमरु तोरब रुण्डमाल ।
 बरद हाँकि बरिआत बेलाएब धिया लए जाएब पराई, ने माई ॥
 धोती लोटा पतरा पोथी सेहो सम लेदन्हि छिनाई ।
 जौ किछु बजता नारद बाभन वाढी धए देब धिमिआई, ने माई ॥

—(बेनीपुरी, पद—२३३)

एक अन्य पद में बृद्ध शिव को जायाता के रूप में देखकर कोपबश 'ऐपन' मिटानेवाली एक पुरहर फोडनेवाली 'मनाइत' के माध्यम से विद्यापति ने उस लोक-सामान्य माँ का चित्रांकन किया है जो अपनी बेटे की कथमपि किसी बूढ़े के गले में नहीं गोंयता चाहती है—

ऐपन मेटल पुरहर फोरल बर किमि चौमुख दीप ।

धिया ले मनाइति मंडप बडमलि गाबिए जनु सखि गीत ॥

—(बेनीपुरी, पद—२४४)

इस तरह हम देखते हैं कि शिव-विवाह की आड़ में बृद्ध-विवाह की सामाजिक कुप्रथा की छीछालेवर करके विद्यापति अपने रूढ़िभंजक एवं प्रबुद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व का अलक्ष्य परिचय देते हैं ।

विद्यापति-पदावली में बाल-विवाह की लोक-प्रथा का भी व्यंग्यमय वर्णन उपलब्ध होता है । इस लौकिक कुसंस्कार पर कवि ने ह्रास्यगर्भित मृदु प्रहार करके उद्दिष्ट व्यंग्यालंवन—बेटे के बाप—की सरे आम पगड़ी उछाली है । उसने विवाहिता तृष्णी के उद्गारों को इस प्रकार उपम्यस्त किया है कि ब्रेमेल विवाह के तत्कालीन कर्त्ता-धर्त्ता भीतर-ही-भीतर तिलमिला गए होंगे—

पिया मोर बालक हम तरुनी । कोन तप चुकलौह भेलौह जननी ॥
 पहिर लेल सखि एक दखिनक चीर । पिया के देग्वैन मोर दगध सरीर ॥
 पिया लेली गोद के बललि बजार । हटिया के लोग पूछे के लागु तोहार ॥
 नहि मोर देवर कि नहि छोट भाड । पुरब लिखल छल बालमु हमार ॥
 बाट रे बटोहिया कि तूहु मोरा भाई । हमरो ममाव नैहर जेने जाड ।
 कहिहुन बाबा के किनए धेनु गाइ । दुधवा पिआड के पोसता जमाइ ॥

—(बेनीपुरी, पद—२६३)

पति बालक है और पत्नी तृष्णी है, जो अपने विवाह से प्रसन्न नहीं है । पति को गोद में लेकर जब युवती पत्नी बाजार जाती है तो लोग उस बालक से

के विषय में पता करते हैं अपने बालक बालम की जननी का पहिँ करने वाली वह नारी अन्तर्व्यथा की आग में दग्ध हो रही है। के द्वारा अपने मैके संवाद भोजनी है कि हे पति, पिला से कहना कर गाय भोजन, ताकि दूध पीकर उनका नामाता पुष्ट हो सके। यह वर्ण्य बता ही सुधम और बेधक है। उन्हो ने युवती पत्नी के अस्भूत में त्रिविन होकर बेमेल विवाह के चलन को जो आडे हाथो में उगने लोकान्मख कवित्व के दर्शन होते हैं।

पदर्ी-प्रथा — विद्यापति की निम्नलिखित पक्ति में लोक-जीवन में निर्वाह की भूचना मिलती है—“टाट टटले आङ्गन बेकल सदे” — (प० प० १२५)।

का वक्तव्य है कि सभी लोग पदर्ी रखते हैं। नग्नता अच्छी नहीं घर-आँगन के पर्द के लिए टाट का दरबाजा या घेरा लगा देते बिल्कुल ही जनसामान्य के जीवन से संबद्ध है। विद्यापति घर नितान्त लौकिक चित्र ही सही प्रस्तुत करते है अपितु पदर्ी रखने स्ति का भी परिचय देने है। लोक-मानस में अपनी नग्नता को पुराकाल से ही बद्धमूल है। ‘मन्ने परदा राष’—यह लोक-मनो-था-विशेष की परिचायिका उक्ति ही प्रतीत होनी है।

सती-प्रथा — पति के देहावसान के बाद आर्यतिक विरह से त्राण चीन काल की नारियाँ आग में जल मरती थीं। भारत के शास में यह प्रथा राजपुत्र समणियों की आन से सबद्ध होकर में दिखलाई पडती है। विद्यापति की एक विरहिणी भी अभाव में धधकती चित्त में समा जाना चाहती है:—

१ सेज हिम साला रे पिया बिनु घर मोयें आजि ।

२ ति करओ महलोलिनि रे मोहि दे अगिहर साजि ॥

— (बेनीपुरी, १८६)

ना’ तत्कालीन सती-प्रथा का सूचक है। उस प्रसंग में यह : स्थापता विवमिह की रानी लिखमाने भी बारह वर्षों की गिन-समाधि ले ली थी। कदाचित् इस विरह-गीत में कवि मनोभावों को लायित करने का प्रयास किया है।

ना गोदवाने की परिपाटी:—हालतक मिथिला की स्त्रियाँ देने के चित्र और लेख गोदवाती रही हैं। अभी भी निम्न-

विरसू...

वग की स्त्रियो म इसका चलन हे जो पगवर खोदपाइनी स्त्रियो क रस सिक्त गीतों को मुनती हुई उन से गोदने गोदवाती है ।

विद्यापति ने अपने एक पद में नायिका के गोदने का काव्यात्मक विनियोग प्रदर्शित किया है । उन्हो ने कृष्ण पर बिगडकर सर्मा कृष्ण और नील वणो के पदार्थो को हटाने, मिटाने या नष्ट कर देने के प्रयत्न करन वाली एक मानिनी की मूर्ति रची है जिसके वक्ष पर काला चित्र या गोदना अंकित है । नायिका मलयज लगाकर उस काले गोदने को मिटाने की चेष्टा करती है । इसी तरह वह सभी काली वस्तुओ पर रष्ट होने के कारण विवुक के तिल पर भी मलयज लगाकर उसे छिपा देती है —

असित चित्र उर पर छल, मेटल मलयज देह लगाइ ।

मृगमद तिलक थोइ हगंचल, कच सयँ मुख लए छत्राइ ॥८॥

एक तील छत्र चार विवुक पर निन्दि मधुप-सत रामा ।

तृन अग्र करि मलयज रंजल ताहि छपाओल रामा ॥१०॥

—(बेनीपुरी, पद-१४५)

यहाँ प्रकारान्तर से 'असित चित्र' या गोदना की प्रथा को कवि ने संकेतित किया है ।

(२) द्यूत-क्रीड़ा की प्रथा. -निम्नलिखित प्रसंगमे जुआड़ी और पाशा का उल्लेख करके विद्यापति द्यूत की प्रथा से अपनी अभिज्ञता प्रकट करते हैं—
‘जाए खने दितहु आलिङ्गन गाड । जनि जुआर पसखे खेळ पाड ॥’ इसी तरह कवि बिहारी ने भी ‘चौगान’ खेल की चर्चा की है ।

(ग) लोकोत्सव

विद्यापति ने लोक-जीवन के उत्सवो का भी वर्णन करके अपनी लोकधर्मी काव्य-चेतना का प्रमाण दिया है । प्राचीन भारत मे विविध ऋतु-उत्सवो के आयोजन होते थे जिनमे वसतोत्सव का स्थान सर्वोपरि था । प्राचीन साहित्य मे इस वसतोत्सव के बड़े ही ललित और स्वाभाविक वर्णन मिलते है । विद्यापति ने वसत-शिशु के जन्म-प्रसंग मे वसत-पंचमी या श्रीपंचमी के उत्सव का जो रूपांकन किया है उसमे लोक-चित्त के हृष-विह्वल पक्ष का सम्यक् प्रकटीकरण हुआ है—‘नाचए जुबति जना हरखित मन जनमल बाल मथाई हे ।’ कवि ने दूसरे स्थलों पर भी वसतोत्सव के मादक चित्रण किए है ।^१ उन्होने फाग-क्रीड़ा काभी जमकर वर्णन किया है । शिव और विष्णु सपरिवार होली खेच रहे हैं, इसका अत्यंत ही सोमनस्यपूर्ण और आह्लादक अंकन प्रस्तुत पद मे हुआ है—

१ दृश्य बेनीपुरी, पद—१७० १४, १८ व १९ तथा पद—१७८ ।

कत न भोरी सिन्दुरे भरलि भमगे भग्न बोकान ।
 बसह कसरि मजूर मुता चाम्हु पलु पलान ॥
 डिमिकि डिमिकि उवरु वाजए इसर खेलए काम ।
 भसमे सिन्दुरे हुषयो खेटा एरुहि दिवसे लागु ॥
 सभोजे सिन्दुरे भरु सरुमिति लाछीहि भरलि गोरा ।
 इसरे भमगे भग्न नराएन पोत बसन बोरी ॥
 एके तजो नागट अजाके उमत्त इसर धुधुर खाए ।
 अजाके उमत्त खेडि खेलावए किछु न बोले जाए ॥
 गरुड वाहन देव नराएन बसह चहु महेस ।
 भने विद्यापति कौतुके गाओल सङ्गहि फीरथि देव ॥

— [प० प० भाग १, पद-२५६]

भस्म और सिन्दूर के भोले लेकर एक ही दिन धूलि या कीचड़ और रंग दोनों के खेल खेलनेवाले, नगे, धतूरा खानेवाले और उन्मत्त शिव वस्तुतः होली की मस्तो के जीवत विग्रह हैं। यहाँ विद्यापति तत्कालीन होलिकोत्सव की इस परिपाटी को सकेतित करते हैं कि धूलि या कीचड़ और रंग के खेल एक ही दिन नहीं होते थे, किन्तु महादेव इस रीति का उल्लंघन करके होली के उत्साह को और भी बढ़ा देते हैं, कवि के वर्णन से यह भी विदित होता है। होली के अवसर पर नशे का सेवन और उन्मत्त-जैसी चेष्टाएँ करना आज भी लोक-विहित ही हैं। विद्यापति प्रमत्त एवं उन्मत्त शिव के होलिकोत्साह के वर्णन से जन-साधारण के उत्साह को ही प्रकारान्तर से व्यक्त करते हैं।

विद्यापति नारायण और शूलानि की एकता के प्रतिपादक कवि हैं। इस अभेद-स्थापन की आवश्यकता कदाचित् लोक-जीवन में विद्यमान भेद बुद्धि के कारण ही पड़ी होगी। ऐसा लगता है कि विद्यापति ने वैष्णवों के शक्तों और शैवों के उग्रताओं के विसंबादी स्वरो को लोक-हृदय की धड़कनों में सुना होगा जिसमें प्रेरित होकर उन्होंने दोनों संप्रदायों को ऐक्य-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया होगा। शैव और वैष्णव संप्रदायों के देवताओं से वैमनस्य नहीं आरमोयतापूर्ण संबंध ही है, यह दिखलाने के लिए ही विद्यापति ने शिव और विष्णु के हाली खेलने का प्रभावशाली चित्रण किया है। नारायण और शिव को साथ-साथ सचरण करते देव विद्यापति को आनन्दयुक्त कौतुक ही होता है, कि दो विरोधी देव आज सभी प्रकारके मनोमालिन्य से मुक्त होकर क्रीडारत हो गए हैं। इस चित्र को उपस्थित करके विद्यापति यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि होली में लोग सभी प्रकार के बैर-भावों को विस्मृत करके एक-दूसरे से सौहार्दपूर्ण वरत्तल पर मिलते-जुलते हैं।

विद्यापति-पदावली की युवलियाँ वासती वातावरण में नानाविध आमोद-क्रीड़ाओं में व्यस्त दिखलाई पड़ती हैं। कवि ने चाँदनी से धुली रातों में मदन-आराधना, झूमर लोक-नृत्य^१ और गीत को संकेतित करके तत्कालीन मिथिला की उत्सवप्रियता का उद्घाटन किया है।^२

एक अन्य पद में भी विद्यापति ने नृत्य और 'रास' का उल्लेख करके लोक-जीवन के मनोरजनात्मक श्रोतों को ज्ञापित किया है।^३

अपने प्रसिद्ध बारहमासा-वर्णन के अन्तर्गत विद्यापति ने 'सुखरात्रि' या दीपावली के लोकोत्सव को भी उल्लिखित किया है।^४

'कीर्तिलता' में भी लोकोत्सवों का संकेत मिलता है—

सम्मान दान विवाह उच्छ्व गीत नाटक कव्वही ॥११॥

आतिथ्य विनय विवेक कौतुक समय पेल्लिअ नव्वही ॥१२॥

—(कीर्ति०२: डॉ० अशवाल)

यहाँ उत्सव, गीत, नाटक, खेल-समाग्य आदि लोक-मनोरजन के ही संकेतक हैं।

'कीर्तिलता' में नक्षत्रानुष्ठान होनेवाले हिन्दू-उत्सवों को 'नक्त' कहा गया है और उसके साथ-साथ मुसलमानों के धार्मिक अनुष्ठान 'रोजा' का भी कवि ने उल्लेख किया है—“कतहु नक्त कतहु रोजा ॥११७॥”—

(कीर्ति० २। डॉ० अशवाल) ।

(इ) लोकोक्तियाँ

विद्यापति-पदावली की लोकोक्तियों के दो वर्ग दृष्टिगत होते हैं—(१) लोक-जीवनया लोक-साहित्य से गृहीत तथा (२) प्राचीन शिक्षा साहित्य से अपहृत। पहले वर्ग की लोकोक्तियाँ लोक-जिह्वा की सम्पत्ति हैं और दूसरे वर्गके सुभाषित विद्यापति केकाव्याध्ययनमूलक अर्थ-हरण के परिचायक हैं। अपने शोध-प्रबंध 'विद्यापति-पदावली के आकर—स्रोत' में मैंने ऐसी लोकोक्तिवैधी सदुक्तियों का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि इन्हें कवि ने लोक-जीवन से नहीं प्राचीन आकर-ग्रन्थों से लेकर अपनी रचनाओं में जड़ दिया है।

'पदावली' के लोक-मुत्र से आयत्त सुभाषितों के भी दो प्रकार हैं—

(१) सार्वदेविक प्रकृतिवाले तथा (२) भाँवालिक विशेषताओं से सम्बन्धित।

इस वर्गीकरण को निम्नलिखित चित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

१. 'झूमर' गा-गाकर नाचने का लोक-मनोरजन मिथिला में आज भी प्रचलित है।

यह नृत्य ही नहीं गीत भी है अतः इसे 'नृत्य गीत' के अन्तर्गत रखा गया है।

२. द्रष्टव्य बेनापुरी, पद—२२२।

३. वही, पद—१२४।

४. सुख सुखरात्रि सबद्ध का श्लोक। इमें दुखसाह सोआमि दय गेउ ॥१॥

—(बेनापुरी, पद—२००)

विद्यापति की लोकोक्तियाँ

लोक-साहित्य से गृहीत,

शिष्ट साहित्य से हत

सार्वदेशिक प्रकृति की,

आबलिक,

सार्वदेशिक प्रकृति की लोकोक्तियों के उदाहरण ये हैं—१. गेल जउवत पुनु पलटि न आबए, केव्व रह पचताबए, २. जे अनुपम उपभोग न आबए, की फल ताहि निहारि, ३. जे कर माहस ता हो मिथि, ४. दूधक माँछी दूती भेलि तथा ५. से नहि बिचल जकर जे जाति ।

‘पदावली’ की आंचलिक लोकोक्तियों के कतिपय नमूने इस प्रकार उपस्थित किए जा सकते हैं—१. कोआ मूह न भनिअए वेद, २. छोट पानि चह-चह कर पोठी केनहिँ जान, ३. जइओ जकर मुह पेच सन, तूसए चाहए आन (‘चलनी दूसलक सूप के जेकरा अपने सहस्सर छंद’-मिथिला की इस लोकोक्ति से तुलनीय), ४. भीपी कादब भला (बात का बर्तगड होना) तथा ५. पूब पछिम नहिँ जान ।

शिष्ट साहित्य से हत पदावलीय सुभाषितों के कुछ उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत हैं—१. आगि जाहि पुनि आगिक काज (गाथासमगती, २।६३ तथा मिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।३४३।२ में गृहीत), २. जादरे जानिअआगिल काज (चारुदत्तम्, अंक २ में उपलब्ध), ३. कुदिना हित जन अनहित रे थिक जगत सोभाव (शृ गारगतक, ३४, हेम-व्याकरण, ४।८०६।३, चारुदत्तम्, १।५ आदि से), ४. रोपि न काटिए विपहुन गाछ (कुमारसम्भवम्, २।५५ में) तथा ५. हाथक कौंगन अरसी काज (कूर्मरमजरी-१ तथा वर्यापद, ३२ से) ।

निश्चय ही 'पदावली' के सुभाषिता का एक प्रमुख स्रोत लोक या लोक-साहित्य है। लोकोक्तियों के विशाल मौखिक साहित्य से प्रभावित होनेवाले विद्यापति की अनेक लोकोक्तियों में जन-संस्कृति रूपायित हुई है। इन कहावतों का लोकनास्तिक अध्ययन करने से सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। विद्यापति की इन सूक्तियों में लोक-ज्ञान, व्यवहार-ज्ञान और जीवन के मार्मिक मन्त्यों का आकरन प्राप्त होता है। कवि ने मुख्यतः लोक-जीवन की कृत्रिमता और जीवन की तिव्रता के अनावरण के लिए ही जीवनानुभवों में संपृक्त लोक-सुभाषितों की योजना की है। इन सदुक्तियों के प्रयोजन विद्यापति मूढ़ ही एक ऐसे नीति-कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं जो जीवन की अयंगतियों और कुरूपता के समर्थ समीक्षक का दायित्व-निर्वाह करते हैं। 'पदावली' की कहावतों के अनुशीलन से यह स्पष्टन सिद्धित होता है कि इनमें लोक-मनोविज्ञान की अद्भुत परख के गुण संपुष्टित हैं। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि कवि ने कहावतों की कोरी उपदेशप्रवणता को अनेकत्र काव्यात्मक सौंदर्य के कलेवर में ही प्रस्तुत किया है।

लोक-संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से विद्यापति की लोकोक्तियों में लोक-व्यवसाय और लोक-विश्वास से सबद्ध प्रभूत सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। वाणिज्यजगत् की प्रकृति की परिचायिका इन उक्तियों में लोक-मानस की स्पष्ट प्रतिच्छाया देखी जा सकती है—

१. आदि अंत नहिं महघ पमार ।

२. आरति गाहक महग बेसाह ।

१. आढम्बर आदर हो सब तहु ।—(वि० प० । न० गु० । पृ० ११०) ।
२. आनक वेदन नद बुझ आन, कुठिना हितजन अनहित ने थिक जन मोभाव, धनिकक आदर सब तहँ डोय, निरबन बापर पुछ्छन कोय रगयक टाँष अगि वन पानि आदि ।
३. विद्यापति की अर्चलिक लोकोक्तियों को इस प्रसंग में देखा जा सकता है—
कुम्भी जरुकरपँ जेहन पिरति, नख छेदन के लाव कुठार, पिपिडी कौ जगो पाँखि जनमय अनल करण भपान, बानर कण्ठे की नोतिम द्वार, बानर मुह की सोभय पान, सिआरका जगो मीय जनमय गिरि उपारण चाह, डम तहँ के विषदु आगर हो दहु कौ थिक भान आदि ।
४. जिन जगो जनि निरथने निधि पाष खन हेरप खन राख भपारय, निरथनकाँ जगो धन किछु हो करण चाहण उछाह आदि ।

३. बएले रतन अधिक मूल होए ।

४. मूल राख वनिजारा ।

पहली उक्ति में बाजार के उतार-चढ़ाव का सटीक अध्ययन है तथा दूसरी कृता के मानस पर प्रकाश डाला गया है। तीसरी उक्ति में माहूकार इस प्रवृत्ति को विशिष्ट किया गया है कि वह विक्रय की सामग्री को बड़ा व दुर्लभ बना देता है जिसमें उसकी कीमत ऊपर की ओर आगती है। आधुनि पूँजीपति भी 'होर्डिङ्ग' के इस सिद्धांत के कायल है। इसी तरह चौथे कथावत में भी व्यापारी के ही मनोविज्ञान पर प्रकाश डाला गया है कि वह अपने मूलधन पर अत्यंत चोकरस रहता है। मिथिला में इस उक्ति में मिलती-जुगती एक और कथावत चलती है—'मूर पलटू नाचे साव ।'

विद्यापति की कतिपय कथावतों में जुलाहा, तेली, कुम्भकार आदि के व्यवसायो और कार्य-कलापों के लोकतान्त्रिक संकेत भी मिलते हैं जिनसे मिथिला के लोक-जीवन के चाक्षुष चित्र उभर कर सामने आते हैं।^१

'पदावली' की लोकविश्वासमूलक कथावतों में गकून, तंत्र-मंत्र आदि के जो लोक-तत्त्व प्रकट होने हैं वे 'लोकवार्ता' के प्रमुख प्रतिपाद्य ही हैं। पीछे हम विद्यापति की उन सूक्तियों पर विचार कर चुके हैं जिनमें वनिया की बोहनी के गकून, अकेले तारे को देखने के अपशकून, छीक से यात्रा बिगडने के विश्वास तथा सर्प-विष से सम्बन्धित अनुश्रुतियों के संक्षेप प्राप्त होते हैं।

'पदावली' के कई सुभाषितों में सामाजिक जीवन के यथार्थ की खगी अनुभूति भी पाई जाती है। 'परक दुआरे करह जनु काज । परक दुआरे करिअ जजो काज, अनुदिन अनुखने पाइअ लाज ॥"—(न० गु० । पद-३१)—इस कथन में पराश्रित भृत्य-वृत्ति की अपमानमूलक कुण्ठा को वाणी दी गई है। सामाजिक जीवन में दूसरों के दरबाजो पर डोलनेवालों की प्रताड़नापूर्ण स्थिति को प्रकट करने में यह कथावत पूर्णतः सफल है। मिथिला में इसी भाव को व्यक्त करनेवाली एक और लोकोक्ति प्रचलित है—“पर घर खइनी पेटही नाँव । पर घर सुतनी मुतनी नाँव ॥” 'पदावली' की एक अन्य सूक्ति में भी चाकरी की निरूढता और चाकर की अतृप्त सामाजिक दशा का विवरण प्राप्त होता है—'भांड छुडल नहि भरले पेट'—(वि० प० १ ३० भा० परिपद्, पद-६२) । कवि ने यहाँ जूटन मलने पर भी पेट के

१. ओढ़ेओ जाति जोलहा जेओ ज्योल धरि नहि पुनप सेओ, तेली बलउ थान भष देषिअ पालव नहि उजिआइ, तर सुते गरि काट कुम्भार आदि

नहीं भरने का संकेत दिया है। इस आंचलिक कहावत का कुलीन पात्र अपकर्म करके भी अपना उदर पोषण नहीं कर पाता है, यह तत्कालीन समाज-व्यवस्था की क्षोभकारी अनुभूति ही है। मिथिला में इस आशय की एक और कहावत का प्रचलन है -- 'जासो गमइली, भातो न खडली'।

'पदावली' की नारी संबन्धी लोकोत्तियों में नारी-जाति के प्रति असम्मान-भावना का प्रकटीकरण हुआ है जिससे तत्कालीन समाज में नारियों की हीन और कदचित दशा का पता चलता है।^१

कहा जा चुका है कि विद्यापति लोक-साहित्य ही नहीं शिष्ट साहित्य की सूक्तियों के रत्नाकर के भी मरजीवा हैं। वे केवल लोक-मुख की संतरण-शील सरस्वती के ही श्रुणी नहीं, नागर साहित्य की सूक्तियों के भी ग्राहक हैं। 'पदावली' के कवि ने केवल जन प्रचलित उक्तिों से ही अपने वक्तव्यों को स्पष्ट नहीं किया है अपितु परंपरागत साहित्य की रही हुई लोकोक्तिवैषी सूक्तियों को भी आत्मसात् कर लिया है। ये सद्बुक्तियाँ लोकोक्तियों के समान ही जान पड़ती हैं किन्तु वस्तुतः इनके पुरस्कर्ता विद्यापति के पूर्ववर्ती कवि हैं। विद्यापति इन चमत्कारप्रवण सूक्तियों को साहित्यिक रिक्त्य के रूप में ग्रहण करके अपनी रचनाओं का मण्डन करने वाले हैं। इन प्राचीन और समाजसातपूर्व सूक्तियों को विद्यापति ने कही तो यथावत् ले लिया है और कही-कही इन्हे मार्जित करके भी ग्रहण किया है। उनका सूक्ति-हरण सदैव और सर्वत्र 'प्रतिबिम्बवल्प' ही नहीं है, यत्र-तत्र सूक्तिकार विद्यापति की मौलिकता भी दृष्टिगत होती है। 'पदावली' के ये सुभाषित विद्यापति को एक नीति कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित करते हैं। निश्चय ही प्राचीन साहित्य की सूक्तियों का अपने काव्य में सन्निवेश करने वाले विद्यापति केवल अपने काव्य-ज्ञान को ही प्रकट नहीं करते हैं बल्कि हिन्दी-नीति-काव्य-परम्परा को भी पुष्ट और समृद्ध करनेवाले सिद्ध होते हैं। 'पदावली' की इन सूक्तियों में नीति-काव्य की उपदेशात्मकता तो है किन्तु इनमें सौष्टव, चाकत्व और लालित्य भी कम नहीं है। जीवनानुभवों से संपृक्त इन साहित्यिक सुभाषितों में केवल चमत्कार और काव्यस्व की ही उपलब्धि नहीं होती है बल्कि विद्यापति-पदावली की लोकप्रियता ने इनमें लोकोत्तियाँ बनने की क्षमता भी भर दी है। 'पदावली' की अनेक साहित्यिक सूक्तियाँ या तो प्राचीन लोकोत्तियाँ ही हैं या उनमें लोकोत्तियों के रूप में लोक-जिज्ञा पर चढ़ने की शक्ति आ गई है।

१ उक्त चरित बड़ विपरीत वृत्त केन्द्र पर सकल काम हम कुशल बुझाएल न बुझल अन्तर नारी जादि

विद्यापति की लोकाश्रित कल्पनाओं का मूल्यांकन

‘विद्यापति-पदावली’ मिथिलांचलिक लोक-जीवन के विश्वसनीय चित्रागार की मर्यादा की अधिकारिणी सिद्ध होती है। निश्चय ही ‘पदावली’ के प्रस्तुत अध्ययन से हम तत्कालीन लोक-प्रवाह की विविध तरंगों से परिचित होते हैं। विद्यापति के साक्ष्य पर हम ऊँख, करैला,^१ कुम्हड़ा और मूली की पैदावार; कुई, पाँड़रि और मधुरी पुष्पो, कुभी-कुई से आच्छादित डारों; डोड साँप और अँधँअ, पोठी आदि मछलियों; चौचा, पेच, बगुला, डाहुक^२ आदि पक्षियों; फूम के छपरों एवं ‘कलकी’ वाले बरों; कुम्हार, खेतहर, जुलाहा, तेली, नाविक एवं मछलियों के शिकारी मल्लाहों, बनिया, माली आदि पेशेवर जातियों; चत्तारिजा, जुआड़ी, फाँसी लगाने में दक्ष बधिक, महाबत आदि निम्न-स्तरीय लोगो; चहल-पहल से भरे बाजारों; रूपहाट के दलाल; गतयोजना रूपाजीवा एवं कुट्टनी; सूद ओर मुनाफा पर चलने वाले महाजन, ग्यायकर्ता पंच; कानो में अतिशय आभूषण पहनने में ‘कनलटकी’ बनी अमीर औरत,^३ गोदना-भूषिता मुन्दरी; बटमारो;^४ डायन, गारुड़ी; देवदेयासिनि तथा बन्दूक,^५ ‘टना’ एक सूप^६ के प्रयोक्ताओं वाली उस मिथिला का प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो जन्म, विवाह, पूजन, युद्ध, श्राद्ध आदि लोक-कृत्यों के आचारों; बाल-वृद्ध विवाह, पदी, सती आदि प्रथाओं; बसतोत्सव, होली, सुखरात्रि आदि उत्सवों और नानाविध लोकविश्वासों में लीन तथा भूमर, रास आदि नृत्यों में जीवन की श्रान्ति को प्रवाहित करती-सी प्रतीत हो रही है।

इसमें कोई वैमत्य नहीं है कि ‘पदावली’ के अनुशीलन से विद्यापति-कालीन समाज और जीवन-पद्धति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है किन्तु ज्ञातव्य है कि विवेच्य ग्रंथ में लोक-संस्कृति के उपकरणों की यह खोज केवल समाज-विज्ञान,

१. दूधे पटाईअ साँप प्र नीन, सहअ न बैजए करइला तान ।—(न० गु० पद—६३१) ।

२. निडर डर डर डाक डाहुक ।—(बेनापुरा, पद—२००) ।

३. पञ्चा सुने प्र शैल महादेइ कनक लाबेओ कान ।—(परिषद्-पदावली, १।८३) ।

४. एकहि नगर बस मायव हे, जनु कर बटमारी ।—(बेनापुरा, पृ० ८६) ।

५. निडर डर डर डाक डाहुक छुटत मदनबनूक ।—(बेनापुरा, पद—२००) ।

६. गकन परसि रह समाँन सूप मरि के आन ।—(परिषद्-पदावली, १।८३) ।

इतिहास और लोक विज्ञान की दृष्टिवा से ही नहीं की गई है कि विद्यापीठ की इस लोकनिष्ठता का साहित्यिक मूल्यांकन ही लेखक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

विद्यापीठ ने अपने लोक-ज्ञान को 'अविचारित रमणीय' काव्य के रूप में ढालकर जिस 'परिचयवाहता' का प्रमाण दिया है वह उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रकट करने वाली है।

काव्याध्ययन विद्यापीठ का पश्यपथ बनने वाला तत्काल कवि बनाता है और शास्त्राध्ययन उन्हें परंपरावादी पद्यन कवि का एक प्रदान करता है किन्तु लोक के अवैक्षण से वे प्रयोगवादी स्वच्छन्दतावादी कल्पक का प्राप्ति प्राप्त करते हैं। उनके लाल-प्रसूत विवा और प्रतापी में आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह नवीनता के बोध नहीं, अंतरता, प्रभावक्षम सामिकता और ताजगी के उल्लास-जन्य नन्दितिक मूल्या का उपलब्ध होता है। काव्य और शास्त्र के चर्चित-चर्चण से ऊबकर कवि विद्यापीठ जब लोक-भूमि पर मचरण करते हैं तब उनकी प्रतिभा जड़ों में मुक्त हाकर नवान अन्त-लोक में पदाभण करता है और अछूत विवा का अणव वभव उनके काव्य-मुकुट में प्रातच्छायित होने लगता है।

विद्यापीठ के अग्रस्तुनों के ज्ञात द्विबध है—शास्त्राय और लौकिक। उनके शारश्रीय उपमान काव्यशास्त्र और कवि-परंपरा का अनुमान करनेवाले अयच गतानुगतक है। लोकान्मुख कवि विद्यापीठ रुढ़ और परम्परागत उपमानों का अतिक्रमण करके अनेकत्र निजा निराक्षण के आकार पर भा विवा का चयन करते हैं। 'कलासकल' उपमानों की तुलना में ब्रह्मर लोकावत और प्रकृति के विवध क्षत्रों से सकालित ये नव्य उपमान कवि का रुमाना मनीवृत्त के परिचायक हैं।

रुढ़ उपमानों का विद्यापीठ ने काव्याध्ययन और कवि-परंपरा के अनुशासन से प्रायत्त किया है। इस तरह के उपमानों के कई मूर्त्त-पत्र प्राचीन कवि-शिक्षा-परम्परा के ग्रन्थों में रहे होंगे, जिनमें से मुख्य तो आज उपलब्ध हैं और बहुतेरे लुप्त हो चुके हैं। उन तालिकाओं की दृष्टि से पता चलता है कि इनसे शुभुषु कवियों का बहुत उपकार होता रहा होगा। विद्यापीठ के मनक एका कई तालिकाएँ रही होंगी जिनका सम्बन्ध उपाय उनका रचनाओं में देखा जाता है, किन्तु यह विद्यापीठ की साहित्यिक मूल-नयना है कि इन निवृत्त और परिनीष्ठत अग्रस्तुनों की आलोकितिक दृष्टि से उपव्यक्त करने में ही वे अपने कवित्व की दयता नही समझते हैं। वे इस तरह में अनीभक्त नहीं हैं कि साहित्य में परंपरागत उपमानों का अपेक्षा नवान हृदयवजक कल्पनाओं में महत्त्व होता है और 'कवि-परंपरा-प्राप्ति' के लिए विवा एव प्रतापी की

पुनश्चिन्तयाँ अयम्कर नहीं होते हैं-। 'पदावली' के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि अपने कई पदों में लोक-जीवन से अप्रसृष्ट चित्रों के चयनकर्त्ता विद्यापति धिसै-पिटे अप्रस्तुतों की नालिकाओं का प्रयत्न-ध्यान करके अलीकपन्थी कवित्व की स्थापना करते हैं। लोकाश्रित कल्पनाओं के पुरम्भर्त्ता विद्यापति परम्परागत वर्णन की वचनीयता से मत्त होकर अत्यन्तम मौलिक कवि की मरुता की प्राप्ति के लिए स्थापित प्रतिभानों को निम्मार करनेवाले वृत्तिकन के सादम का प्रदर्शन करने के कारण परवस्त्रियों के लिए अन्दरलीण हो जाते हैं, यह कश्चै की आवश्यकता नहीं है।

इस मान्यता में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है कि लोकपरक मौलिक चिन्तों के धरक विद्यापति केवल चित्रधर्मी काव्य-प्रणेता ही नहीं अनुच्छिष्ट 'अलिङ्गल'-काव्य-रस से वाणी-मन्दिर की वेदिका को प्रक्षालित करनेवाले भी हैं। विद्या-पति की लोकाश्रित कल्पनाओं में यदि केवल नवीनता ही होती तो वे आलोचक की आशमा की अधिकारिणी नहीं होतीं किन्तु हर्ष का विषय है कि कवि की योगशील प्रतिभा सहजता और भाविकता को ही नवीनता का निकष मानकर चकती है जिसमें निर्बाध रस-सिद्धि के विधायक महाकवित्व का निष्पादन स्वतः हो जाता है।

इस प्रसंग में यह भी व्यातक्य है कि विद्यापति की प्रतिभा जब जीवन के वैषम्य और अनौचित्य की आलोचना के लिए क्रनसंकरप होती है तब वह स्वभावतः लोकाभिमुखी हो जाती है। बेमेल विवाह कुटुनी आदि के वर्णन-क्रम में तो लोकचेता विद्यापति सामाजिक जीवन की निर्दृष्ट आलोचना करते ही हैं किन्तु प्रणयादि इतर संदर्भों में भी अनौचित्य का उल्लंघन देखकर वे लोक-उपमानों और लोकोक्तियों के द्वारा उनकी 'कात्मात्ममित' ताडना को तन्पर हो जाते हैं। वे जब व्यंग्य करने की मनोदशा में होते हैं तब बेधक लोक प्रतीकों की भाषा में ही अपने वस्तुव्यों की सुस्पष्ट और प्रभाव-पुरस्सर प्रस्तुति करते हैं, यह एक प्रत्यभिज्ञेय तथ्य है।

विद्यापति जब किसी दुर्गुण-रूपधर दोषावह व्यक्ति को दूसरे की कदर्थना करते देखते हैं तब इस अनौचित्य से शब्ध होकर 'पेच' पक्षी तथा डाबर की कुई के चित्र सामने ले आते हैं। 'पेच-जैसे कुरूप और हास्यास्पद पक्षी का समानधर्मी व्यक्ति दूसरे का दूषण करने का अधिकार नहीं रखता है; उसे सबसे पहले आत्मालोचन करना चाहिए; किन्तु विद्यापति उस लोक-मनोवृत्ति

को जानते हैं कि लोग अपने दोष को अपने नहीं देखते हैं अपनहु न दोख
अपनुक देह ।^१ मचमच अपना टेटर अपनी छाँखों मे अलसित ही रहत
है । कमल-दूषण-रसिका कुई के लोक-संपृक्त विष के द्वारा भी लोक-जीव
के इस ताडनीय प्रसंग का ही आख्यान 'पदावली' मे प्राप्त होता है । डाख
की कुई यदि भील के कमल की निदा करती है तो कवि का औचित्य-बोध
आहत हो जाता है । कौलीन्य-गर्व के कवि विद्यापति जन्मजात नीच के
द्वारा जन्मजात उच्च की धर्तना में सामाजिक जीवन के औचित्य का अनिक्रमण
देखकर अपनी काव्यात्मक खीभ को प्रकट करते हैं ।

विद्यापति को जब क्षुद्रजनो के मिथ्याभिमान पर बोट करने की इच्छा
होती है तब वे विषगर्वस्फीत डोढ, पंखवाली चीटी,^२ पर्वत उखाडने के
इच्छुक शुगाल^३ तथा स्वरा जल से भी चहचहानेवाली पोटी मछली^४ के
लोक प्रतीको को योजित करते हैं जिसमे उनके कथ्य में अत्यंत ही मनोरम
चक्रता का सन्निवेश हो जाता है । उसी तरह मानव-प्रकृति के पारखी महा-
कवि भद्र-भजक गिणुन-चरित्र की असंगति और अनौचित्यमूलक क्षुद्रता के
भिरसन के लिए मुख-मुखार्थ पटोर को काट देनेवाले भीगुर के व्यभ्यात्मक लोक-
प्रतीक^५ का रसात्मक विन्यास करके शिवेतर^६ के शय से हबदू अपने लोक-
संगलवादी दृष्टिकोण को उद्भासित करते हैं ।

'उच्चितानुचित-विषेक' से रहित व्यक्ति पर विद्यापति का उमडा हुआ
आक्रोश प्रायः आंचलिक लोकोक्तियो के माध्यम से फूट उठता है । काँच-
काँचन, गुंजा-रत्न और नीर-क्षीर को एक ही पलड़े पर तौलनेवाला अविवेकी
जब उनके व्यंथ का पात्र बनता है^७ तब वह उनके मूर्ति-वथन के कौशल से
निश्चय ही मर्माहत और लज्जित हो जाता है । कुपात्र की प्रतिष्ठा भी उनके
अनुसार अनौचित्य ही है जिपके उपहास के लिए वे मौक्तिक-माल्य पहने एव

१. वि० प० । न० गु० । पद—४७७ ।

२. पिपिडी काँ जरो पानि जनमण, अनल करण समान ।—[न० गु० पद—२१६] ।

३. मिश्रारका जगो मांग जलमग, गिरि उपाप वाद ।—[न० गु० । पद—३१६] ।

४. छोद पानि चह-चह कर पोटी, के नहिँ जान ।

५. मुख मुते भोगुर क द पटोर ।

६. काँच काँचन न जानप मूल ।

गुंजा रत्न करण समत्तु ॥४॥

जे किछु कछु नहिँ कलारम जान ।

नीर क्षीर इदू करण समान ६

ताबूल से अधर रंगे वानर के लोक-प्रतीक का अवतरण करते दृष्टिगत होते हैं ।^१

मामूली काम के लिए महान् उद्यम के सभारंभ में भी 'उचितानुचित-विवेक' का अभाव ही लक्षित होता है । इस पर रमसिक्त फड्की कसते हुए विद्यापति नख काटने में व्यस्त कुठार का बिन्न प्रस्तुत करते हैं ।^२

होम करते जब हाथ बलता है तब जीवन की इस उल्टी गंगा में विपणन होकर विद्यापति अक्कर खाने से टूटनेवाले दाँतों का चित्रांकन करके अपनी जिस रमपेजल आलोचना शैली का परिचय देते हैं^३ वह औचित्य-द्रिष्यक जीवन-मूल्यों में ही प्रभावित है ।

विद्यापति की नायिकाएँ और दूरियाँ जब प्रेम-प्रसंगों में उपालभ देने और व्यग्य करने की मुद्रा में आती हैं तब लोक-प्रतीकों का ताँता ही लगा देता है । उनके अनुसार बुरा प्रेमी तेली के बैल की तरह है जो 'पालो' का कर्तव्य-भार संभालने में सक्षम नहीं है । आरंभ में इस कुपात्र में ही मत्पात्र का भ्रम हो जाता है किन्तु अन्ततः कार्य को परख से वास्तविकता का पता चलता है । इसी भाँति निष्ठारहित प्रिय के छिद्रान्वेषण-क्रम में नायिका चठैल और परबल के तुलनात्मक प्रतीकों की योजना करके तकल एवं असल के परिज्ञान में उत्पन्न पश्चात्तापमूलक आत्मालोचन में डूब जाती है । इन सदर्थ में हम उस नायिका को भी नहीं भूल सकते हैं जो हृदय के कपटी और बचन के प्यारे नायक पर 'कुमियार' का आरोप करके अपने उपालंभ का प्रदर्शन करती है ।

क्षणस्थायी प्रणयानुबन्ध पर व्यग्य करते हुए विद्यापति उसे मूली की तरह भग्न हो जानेवाला प्रतिगदित करते हैं । इसी प्रकार कृत्रिम, बाहरी और भ्रष्ट प्रीति को वे कुम्भी-जल-न्याय तथा खर-कुम्हड़ा-न्याय से अपने व्यग्य-प्रहार का विषय बनाते हैं । कुम्भी जलाशय के जल पर छाकर भी उससे प्रकृत्या विलग ही नहीं उसके व्यक्तित्व की भ्रष्टता का कारण भी होती है तथा कुम्हड़े का प्यार भी फूम के छपर की जीर्णता एवं उसके ध्वंस का विधायक ही सिद्ध होता है ।

१. (क) वानर-कठ कि मोतिम माल । १. वानर-मुँह की सोभण पान ।।

—[बिनीपुरी, पद—६७] ।

(ख) मदा रतन भेठ नहि जान

वाचर मुद्र न मोभण पान ।। —[वि० प० ११। रा० भा० प० १ पद-११२] ।

२ नख छेदन के नाब कुठार । —[न० गु० । पद—३८६] ।

३. माँकर खाइते भाग्य दांत । —[न० गु० । पद—४८१] ।

वसी क्रम से गतरनि पर ठिठ ली करत हुए विद्यापति कुण्ड क चौर को अनावश्यक आशन, स्वतः का लौकिक प्रसंग उानिवट्ट करके अपनी परिहाम-प्रियता का परिवश देते ह । कटने की आवश्यकता नही है कि उनको परिहामात्मक प्रवृत्ति में प्रसून लोकिव बिबो में अकृत्रिम लोक-जीवन की महत्त्व-सक उल्लुलता की अट्टपूर्व दाति दृष्टिगत होनी है ।

अबोध नायिका के लील-हरण पर व्यगगर्भिन दमित करते हुए, 'अंभंअ मछली' का लोक-प्रतीक लाकर विद्यापति अपने अ'स्यभ्य को अतीव पेंपणीयता प्रदान कर देते है । 'पदावली' के अध्येताओ को यह अविदित नही है कि विद्यापति के लोक-प्रतीको का साधारणीकरण लोक-जीवन में व्यग-भावकी साहित्यिक अमता और संप्रेषित बिबो की प्रामादिकता के समीकरण का ही महज परिणाम है । विद्यापति-साहित्य में गनयौवता ह्यराजीव के शरार के लिए हाट की सूनी दुकान के सगत प्रतीक और परित्यक्ता पुश्तली के लिए बैमबार्डी की हाँटी क प्रभावण बिब भी आक्रोश की मनोदना में ही घटित हुए ह ओर उनके साधारणीकृत होने में कोई भी बाधा नही है ।

केवल नारीजनोचित कोप-प्रदर्शन में ही विद्यापति की बिब-योजना का लोकाश्रित स्वरूप दृष्टिगत नही होता है बलिक नारी के व्यवहारों में शुद्ध होकर भी वे लोक-प्रतीको की उपालंभव्यजक भाषा में बोलते है । नारी के टेढे हृदय के लिए टकुपु' के लोक-उपमान और उमकी अ-लना के लिए फाँसी की रस्सी' के चित्र-द्वारा वे उसके पीडक चरित्र पर लोभ ही प्रकट करते हैं ।

मृतरां, 'पदावली' की लोकाश्रित कल्पनाओं की उम विचिकित्सा में विदित है कि विद्यापति के लोकधर्मी प्रतीक आलोचना, उपालंभ, लीक और लोक-भौक की कोस से उत्पन्न हुए है । मनाकवि जहाँ भी जीवन-रस के विघानक अनौचित्य को देखते है वहाँ वे लोक बिबो के सयोजन से साहित्यिक सघर्ष छेड़ देते है । फलतः उनका अनौचित्य-दहन का प्रयास रस-शरण का सफल विघामक हो जाना है । उपालंभ भा अनौचित्य-बोध की उी प्रतिक्रिया है, अतः कवि के उपालंभाश्रित लोक-प्रतीकों में भी अनौचित्य-रक्षण के उत्साह के कारण अजस्य रसमयता का ही संभार होता है ।

किवहुना, 'पदावली' में लोकाश्रित कल्पनाओं के विनियोग के उद्देश्य मालिकता का स्थापना और जीवनगत असंगतियों की आलोचना हैं, जिनकी परिणति रसवादी मूल्यों की सिद्धि में होती है ।

१. साजनि तेजसि बचन रोष । टाकु सन द्विप्र सोभो करसि मानसि बाहू बिगोव ॥
—(बि० प० ११।१४ । रा० भा० परिषद्)

२. भौड लता बड दक्षिण कठोर । अजनि आजि अजसि युन ओर ।

—(वही, पङ्—२०४)

